हमारी

पारिवारिक व्यवस्था

[पारिवारिक व्यवस्था के प्राचीन भारतीय आदर्श की मार्मिक व्याख्या]

मू० लेखक

डा० बी० पट्टाभि सीतारामैया

अनुवादक

श्री जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी भूषण, विशारद

विक्रेता

मात्-भाषा-मन्दिर,

दारागंज, प्रयाग

प्रथम संस्करण] १६४२ ई० [मूल्य १)

प्रकाशक—

राष्ट्र-भाषा-मंदिर,
दारागंज, प्रयाग।

प्रथमबार १०००] १९४२ [मूल्य सजिल्द १।)
अजिल्द १)

मुद्रक—

कुमार प्रिन्टिंग वर्क्स,
दारागंज, प्रयाग।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—हमारी पारिवारिक व्यवस्था का पुनरुद्धार	...	१
२—हिन्दू परिवार में कला	... ...	२७
३—हिन्दू परिवार की एक झांकी	... ...	३६
४—हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन की झांकी	...	४४
५—पुत्र	... ...	४८
६—पुत्री	... ...	५५
७—दामाद	... ...	५६
८—पुत्र-वधू	. ...	६३
९—पिता	... ...	७०
१०—माता	... ...	७३
११—स्त्री	... ...	७७
१२—पति	... ...	८१
१३—विधवा	... ...	८६
१४—महिलाओं का विलाप	... ...	९१
१५—बालक का विलाप	... ...	९७
१६—भारतीय स्त्रियाँ	... ...	१०२
१७—राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों का स्थान	...	१११
१८—विवाह	... ...	११७
१९—उपसंहार	... .	१२२

कौन क्या, कहते हैं ?

मैंने मातृ भाषा मंदिर द्वारा प्रकाशित (१) भारत का आर्थिक शोषण, (२) म० गान्धी का समाजवाद (३) साम्राज्य शाही के कर्णधार (४) चर्खे की उपयोगिता, नामक पुस्तकें पढ़ीं। पुस्तकें सामयिक, पठनीय तथा संग्रहणीय हैं। आशा है हिन्दी पुस्तक प्रेमी इन्हें अपना कर प्रकाशक का उत्साह बढ़ायेंगे।

श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल
प्रधान U. P. C. C. और एम० एल० ए,

मैंने १ भारत का आर्थिक शोषण, २ म० गान्धी का समाजवाद, ३ साम्राज्यशाही के कर्णधार, ४ चर्खे की उपयोगिता, ये चारों पुस्तकें देखीं। मुझे अच्छी लगीं। सामयिक और उपयोगी होने से उनका प्रचार होना चाहिये।

सम्पूर्णानन्द
भूतपूर्व मिनिस्टर U. P.

आपकी पुस्तकें चारों देखीं, इन्हें बहुत ही उपयोगी पाया। थोड़े में हिन्दी-भाषा-भाषियों को सामयिक समस्याओं को समझाने और उनके हलको बतलाने का जो आप विशेषज्ञों के लेखों के आधार पर कर रहे हैं वह सर्वथा प्रशंसनीय है। आशा है आपके सदुद्देशों की सिद्धि होगी।

श्री प्रकाश
सेवा आश्रम बनारस।

साम्राज्यशाही के कर्णधार, अच्छा ग्रन्थ है। ग्रेटबृटेन के राजनीतिज्ञों के आर्थिक स्वार्थों का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है। हमारे प्रत्येक राजनैतिक कार्यकर्ताओं को इस ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये।

भारत का आर्थिक शोषण, नामक ग्रंथ भी बड़ा शिक्षाप्रद है। इसे पढ़कर हमारे साधारण कार्यकर्ता भी हमारी आर्थिक समस्या से परिचित हो जायेंगे।

आशा है इन पुस्तकों का अच्छा आदर होगा—

बालकृष्ण शर्मा
सम्पादक—प्रताप।

हमारी परिवारिक व्यवस्था

१—हमारी पारिवारिक व्यवस्था का पुनरुद्धार

भारतवष अपनी राजनीति में इतना फँसा है, और अपनी दासता पर इतना अधिक क्षुब्ध है, कि इसको अपने सामाजिक नियमों तथा गृहस्थी की बातों को सोचने का समय ही नहीं है। भारतीय संवाद-पत्रों को भारतीय पारिवारिक व्यवस्था के अध्ययन के लिये एक पंक्ति भी स्थान निकालना कठिन है, किन्तु विदेशी संवाद-पत्रों में ऐसी बातों को स्थान मिलता है। किन्तु अत्यधिक क्षोभ की बात तो यह है, कि शिक्षित भारतीय अपने रीति रस्म के संबन्ध में कुछ सुनी-सुनाई बातों को ही ठीक मान लेते हैं, जो उनके देश में उनके देश के राजनैतिक शत्रु, कुछ विदेशी यात्रियों, धर्मोपदेशकों और साधारण आलोचकों द्वारा प्रगट की गई होती हैं। अपनी पारिवारिक व्यवस्था से भारतीयों के असन्तुष्ट होने की बात गुप्त नहीं है। एक ऐसे अंगरेज ने, जिसको दूर की बात सोचने तथा स्पष्ट-वक्ता होने का साहस है, यह घोषित किया है, कि अंग्रेजी शिक्षा

प्राप्त भारतीय अपने ही परिवार, घरबार, माता-पिता तथा अपनी पत्नी से ऊबा हुआ होता है। यदि हमारी शिक्षा का यही परिणाम है, तो हम इसके लिये बहुत गर्व नहीं कर सकते। किन्तु यह एक सभ्यता का दूसरी सभ्यता पर डाले हुये शान्त प्रभाव का परिणाम भी है। जब वे दोनों सभ्यतायें असमान रूप से मिल रहीं हों, तो उसकी बात और भी शोचनीय है। शासक जाति की सभ्यता शासित लोगों के लिये निश्चय ही अनुकरणीय होती है। शासित वर्ग इस बात को समझने लगता है कि उसके शासकों के रीति-रस्म और वेश-भूषा अवश्य स्वीकार करने चाहिये।

समाज का नेता राजा नहीं रहा

एक स्वतंत्र देश में राजा राष्ट्र का केवल राजनीतिक अधिनायक ही नहीं होता किन्तु समाज का भी नेता होता है। राजा की प्रजा राजदरबार के पहनावे और रीति रस्म का अनुकरण करती है। जब एक प्रथा को परिवर्तित करना होता है, तो उसके लिये कुल इतना ही करना होता है, कि राजा और रानी उस परिवर्तन का उद्घाटन करें। एक इसी उदाहरण से युगों से प्रचलित प्रथा के नूतन परिवर्तन पर राजकीय मुहर देकर राजा उन्हें समाज में प्रचलित कर देता है। इसी प्रकार सदाचार का झुकाव, नैतिकता के नियम और प्रणय की भावना

जो निश्चित रूपसे समाज का संचालन और नियंत्रण करते हैं, राजाओं द्वारा ही आरम्भ किये जाते हैं। राजा जनता के भी हृदय का उतना ही स्वामी होता है, जितना राष्ट्र का योग्य विधाता। इंग्लैंण्ड आदि देशों में भी, जहां राजा की शक्तियां बिलकुल सीमित कर दी गई हैं, राजा के मूल्य और महत्व को दूसरी दिशा में अधिक कर, उसे समाज का नेता मान लिया गया है। राजदरबार राजा-रानी को संपन्न वर्ग के संपर्क में लाने का साधन है और संपन्न वर्ग द्वारा जनता में अधिक उपयुक्त भावनाओं तथा आदर्शों का प्रसार होता है। दुर्भाग्य से हमारे देश में न तो ऐसे राजा ही हैं, न ऐसी रानी ही हैं, जो जनता का एक अंग हों जिससे उनकी सामाजिक समस्याओं पर विचार कर सकें, उनकी घरेलू कठिनाइयों में भाग लेसकें, नित्य सामने आनेवाले सामाजिक तथा पारिवारिक प्रश्नों के सुलझाव के लिये उनसे मिलकर प्रयत्न कर सकें।

धार्मिक नेताओं की अवहेलना

जहां समाज से संबन्ध रखने वाले प्रश्नों पर देश के राजनीतिक अधिनायक का प्रभाव इस प्रकार लुप्त हो गया है, वहाँ धार्मिक नेता का पद भी बहुत कुछ निर्बल तथा बदनाम कर दिया गया है। इसके कुछ विशेष कारण हैं। हमारे यहां हिन्दू समाज और धर्म के निश्चित रुप से विरोधी, अथवा इन प्रश्नों के संबन्ध में, इसी प्रकार से निश्चित रूप से उदासीनता का

भाव रखने वाली संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली बिलकुल सांसारिक शिक्षा ने इनकी ओर से सर्वथा ध्यान हटाने में सहायता पहुँचाई है, और उनको निन्दा, बदनामी, अवहेलना तथा अनुचित रुप से प्रगट किये जाने का शिकार बनने को छोड़ दिया है। मैं समाज और परिवार की इन समस्याओं की ओर थोड़ा ध्यान आकर्षित करूंगा जो देखने में तुच्छ हैं।

समाज की अपेक्षा परिवार की अधिक क्षति

परिवार और समाज के बीच अलगाव की बारीक रेखा खींच सकना कदाचित कठिन है। परिवारों के समूह से ही समाज बनता है, फिर भी विशुद्ध घरेलू बातों को सामाजिक भावों से अलग करना असम्भव नहीं है। समाज के क्षेत्र में हम लोगों ने थोड़ा ध्यान दिया है। कुछ पहले के ईसाई धर्म प्रचारकों की अच्छी आलोचनाओं के कारण विशेषतया वर्ण व्यवस्था हटाने और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा के प्रश्नों की ओर ध्यान दिया गया है। परिवार को हम लोगों ने बिलकुल अकेला छोड़ दिया है। या तो हमने स्वयं उसी को चिन्ता करने के लिये छोड़ दिया है या उसकी बिलकुल चिन्ता ही नहीं की है। अपने जीवन के रचनात्मक काल में छात्रावास वा होटलों और कालेजों में रहने वाले विद्यार्थी पारिवारिक वातावरण से वंचित रहते हैं किन्तु मनोभावनाओं के विकास का स्थान केवल परिवार ही होता है। वे अपना समय

नगरों में बिताते हैं और छुट्टी में भी अपने गाँव में लौटने की इच्छा नहीं करते। गांवों में न थियेटर और सिनेमा (नाच तमाशा घर) ही होते हैं और न रेस्टोरां (चाय पानी की दूकान) और क्लब ही होते है। नगरों की चकाचौंध वाली रोशनी का स्थान रेंड़ी के तेल का छोटा दिया ले लेता है तथा-मोटर और लारियों के स्थान पर थका हुआ मजदूर कंधे पर हल रक्खे हुये अपने दुबले पतले बैलों के साथ घर लौटता हुआ दिखलाई पड़ता है। हमारे बालक अपने घरों में स्वयं विदेशी होने का अनुभव करते हैं। वे जातीय उत्सवों के मनाने में आनन्द का अनुभव नहीं करते और उनकी माताओं और बहिनों वाले देवी देवता उनके ध्यान में नही चढ़ते। रीति-रस्म, धार्मिक कृत्य तथा पर्व त्योहार उनको बिलकुल विलक्षण सी बातें मालूम पड़ती हैं। हमारे अधिकांश बालकों को संस्कृत का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, इसलिये वे उस धार्मिक दृष्टिकोण के मर्म को नहीं समझ सकते जिसे हिन्दू परिवार सतत पल्लवित करने का प्रयत्न करता रहता है। वास्तविक बात यह है कि स्वशासित राष्ट्र अपने राजाओं और राज्य-व्यवस्था, अपने-धर्म और दर्शन, अपने संस्कार तथा अपनी सभ्यता और अपनी प्रथाओं तथा रीति-रस्मों, अपनी कला और अपने आचारों पर गर्व रखते हैं। हम लोगों का अपना कोई राज्य नहीं है, अत-एव हमलोगों का अपना कोई देश नहीं, समाज नहीं, घर नहीं अतएव हमें पुनः उनको खोजना होगा, उनकी पुनर्व्याख्या करनी होगी और उन्हें पुनः प्राप्त करना होगा।

परिवार के विशेष गुण

विचार पूर्वक देखने वाले के लिये हिन्दू परिवार की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:- आंगनदार मकान, संयुक्त परिवार, अत्यन्त घरेलू प्रेम, धार्मिक भित्ति, स्त्रियों को प्राप्त उच्च स्थान, उत्तराधिकार के न्यायपूर्ण नियम और अतिथि-सत्कार की भावना जो घरभर में व्याप्त होती है। इनमें से कोई स्वयं नियम पूर्ण नहीं होती है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, उदाहरणार्थ अवरुद्ध विकास और प्रयुक्त न होने के कारण निर्वलतायें दो मुख्य कारण हैं, जो इन गुणों से संबन्ध रखने वाली ध्यान देने योग्य अपूर्णता उत्पन्न करती हैं। विदेशियों को इस देश में शासन करते हुए दस सहस्र वर्ष से अधिक होगये और भारतवर्ष दो विभागों में बट गया है एक तो प्रत्यक्ष रूप से विदेशी शासन में है और दूसरा विभाग अप्रत्यक्ष रूप से है। यह दूसरा विभाग नाम मात्र के देशी राजाओं के शासन में है जो कुछ प्राचीन रीति रस्मों को तो सुरक्षित रक्खे हुए है किन्तु न उनमें कुछ व्यक्तित्व हीं है और न कुछ शक्ति ही रह गई है। तथा वे स्वयं पाश्चात्य वेशभूषा और प्रणालियों के शिकार होते जा रहे हैं। तथापि देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत का अन्तर केवल ध्यान देने योग्य ही नहीं है बल्कि कई प्रकार से अत्यन्त स्पष्ट है, यद्यपि यह दोनो हीं एक नये युग के नाशकारी प्रभाव के आधीन हो गये हैं और परिवार तथा समाज में प्रचलित की गई नवीनताऐं सर्वांगीण

रूप से अव्यवस्थित, विकृत और आकस्मिक रूप की हैं। वे इस प्रकार की नहीं हैं कि वे सच्चे और सत्पुरुषों के उदाहरण और बुद्धि द्वारा उद्घाटित और नवीन जान पड़ें बल्कि वे राष्ट्रीय सभ्यता रूपी पेड़ के तने को कुरूप बनाने वाली गाँठें हैं और उसका बल हरण करती हैं। ऊपर बतलाए हुए प्रत्येक गुण का अध्ययन करने से यह प्रगट होता है कि समाज और परिवार के प्रचलित किये हुऐ वे परिवर्तन जिन्हें आप चाहें तो सुधार नाम से भी पुकार सकते हैं विवेक की अपेक्षा उतावलेपन के ही अधिक परिणाम हैं और समाज के माने हुऐ नेताओं के सहज प्रभाव के आधीन प्रचलित परिवर्तनों का स्वाभाविक रूप उनमें नहीं होता जो साधारण जन, समुदाय के तर्क के साथ साथ स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा भी ग्राह्य हों।

आँगनदार मकान

हम एक आदर्श हिन्दू घर की चर्चा करते हैं। यह एक आँगनदार घर होता है। इसमें घर के बीच में हवा और रोशनी आती रहती है और घर के लोग सतत ताराओं से व्याप्त गगनमंडल और नीले आकाश को आँख के सामने देखते रहते हैं उन्हें खुली हवा में रहने का मौका मिलता है। इस प्रकार का बना हुआ घर विस्तृत होता है और उसमें अतिथि-सत्कार का अवसर होता है, आँगन के चारों बरामदे में सहभोज के समय एक हजार आदमियों के अँटने का आदर्श रक्खा जाता है। यह

निश्चय ही एक उच्च आकांक्षा का आदर्श है। किन्तु सभी आदर्श उच्च आकाँक्षा वाले होते हैं। उनका महत्व उनमें निहित सिद्धान्तों में ही होता है। हिन्दू घर बाहर की ओर से भड़कीला नहीं होता, केवल सुन्दर कारीगरी किया हुआ फाटक ही बाहर दिखाई पड़ सकता है। कारीगर उनके बनाने के लिये गढाई पहले से निश्चित नहीं करता। यह उसकी इच्छा पर होता है कि वह शेष मकान के जोड़ का फाटक तैयार करें। पहले एक साधारण दरवाजा लगा दियाजाता है। फिर परिवार का बढ़ई गृह-प्रवेश के पहले या बाद में सुन्दर स्थायी फाटक लगाता है और अपना पुरस्कार ले जाता है। उसे फाटक का मूल्य नहीं बल्कि पुरस्कार मिलता है। कोई भी व्यक्ति बढ़ई या राजगीर को कोई आदेश नहीं देता। वे शास्त्रों का अनुसरण करते हुए अपना कार्य करते हैं और स्वच्छता, नाप-जोख, सुविधा तथा सौन्दर्य इन सब बातों के लिये इनका भरोसा किया जा सकता है। कोई भी खंभा बिना गढा हुआ या सादा नहीं रक्खा जाता पश्चिमी भाग जाने के लिये सुरक्षित रहता है, दक्षिण की ओर भोजन-गृह सुरक्षित रहता है जिसमें हवा और रोशनी काफी जा सकती है। आप बैठक से भोजन की ओर जैसे बढ़ते हैं वैसे वैसे यह विस्तृत और भड़कीला होता जाता है। जहाँ पर आवश्यकता होती है वहाँ पर यह विस्तृत होता जाता हैं। आप जितना ही भीतर की ओर घुसते हैं उतना अधिक अतिथियों को स्थान देने योग्य यह जान पड़ता है। यह एक सद्गृहस्थ की

भांति होता है जो अधिकाधिक ध्यान देते जाने पर ही जाना जा सकता है कि उसका हृदय भीतर कितने विस्तृत रूप में छिपा हुआ है और बाहर से देखने पर उसका बहुत सादा रूप मालूम पड़ता है। भीतरी आँगन के दोनों बगल कमरे होते हैं (अच्छे घरों में दो आंगन होते हैं।) जब आज हमारे घरों के आंगन छोटे और संकुचित होगये हैं तो वे प्रगट करते हैं कि शब्दों के पीछे भावना का कितना दमन होता है और वे प्रकट करते हैं कि किस प्रकार मनुष्यों का हृदय और उनकी विशालता संकुचित होकर बन्द होगए हैं। एक अंगरेज एक हिन्दू परिवार का भोजन-गृह देखने के लिये आमंत्रित किया गया तो उसे भीतरी भाग की स्वच्छता, चमकते हुए पीतल और कांसे के बर्तन, पारिवारिक देवता का स्वच्छ स्थान तथा सब बातों की पूर्ण और सुन्दर व्यवस्था देखकर बड़ा विस्मय हुआ। विलायती घरों की तरह रसोई घर के ही पीछे कूड़ा-कबाड़, उच्छिष्ट भोजन वा भोज्य जन्तुओं के शव के अवशेष दृष्टिगोचर नहीं हुए। हिन्दू परिवार की माताओं और बहिनों का प्रातः काल का पहिला काम घर भर के कमरे, दालान और आंगन का झाड़ू बहारू कर उन्हें गोबर से लीपकर स्वच्छ करना होता है जिससे धूल मट्टी इत्यादि बैठ जाय। घर के बड़े लोगों के द्वारा बच्चों में दिनरात स्वच्छता का भाव प्रेरित किया जाता रहता है।

संयुक्त परिवार

हिन्दू घर की योजना संयुक्त परिवार के लिये की गई है। जिस प्रकार जीवन की आधुनिक अवस्था द्वारा संयुक्त परिवार टूट गया है, ठीक इसी प्रकार आंगनदार मकानों ने अपना स्थान बंगलानुमा मकानों को दे दिया है। वास्तव में हिन्दू परिवार उत्पादन और वितरण के लिये एक सहयोग समिति है। युवा पुरुष अपने कार्य समान रूप से तथा न्यायपूर्वक बांट लेते हैं। यहां एक व्यक्ति ढोरों की देख-भाल करता है। दूसरा खेती का काम देखता है। तीसरा घरेलू प्रबन्ध देखता है और चौथा लेन-देन का काम करता है। अब इस लेन-देन का काम मुकदमेबाजी ने लेलिया है। परिवार के लोगों में सब कोई एक दूसरे का विश्वास करता है। दुर्भाग्यवश आज-कल असह-कारिता के भावना की अंगरेजी शिक्षा पाये हुए भाइयों की असहकारिता के भावना के कारण यह सहयोग संस्था टूट गई है। डाक्टरी व वकालत पास पुरुष अपना पेशा शुरू करते हैं और अपनी कमाई कर उसे अलग समेटते हैं, साथ ही पैतृक जायदाद में भी हिस्सा बटाने दौड़ते हैं। बड़े भाई दिन भर पसीना बहाकर जो कमाते हैं उसमें छोटे भाइयों को भी हिस्सा देना पड़ता है। किन्तु वे छोटे भाई अपनी बुद्धि से उपार्जित कमाई को अपने और अपनी नगर में पली हुई पत्नी के लिये रखते है। जहां तक स्त्रियों का सम्बन्ध है वहां तक संघबद्ध जीवन का आदर्श अब भी सुरक्षित है। माता का सर्वोपरि आदर्श

बच्चों का पालन पोषण, घरबार की व्यवस्था तथा गौवों से प्राप्त दूध घी, रसोई तथा बच्चों की देखभाल करना है किन्तु शिक्षित भाई परिवार से अलग होकर और अपने लिये ही रहते हैं, भाइयों से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। हाँ, उन्हें पारिवारिक आय-व्यय का चिट्ठा पेश करने के लिये कभी कभी कचहरी में अवश्य घसीट बुलाते हैं।

ग्राम जीवन का प्राचीन आदर्श लुप्त होगया है। जब कभी विवाह शादी पड़ती है तो सारे गाँव से घी आदि सामान उस परिवार को दिया जाता है जिसे उसकी आवश्यकता होती है जिसमें यह अवश्य मान लिया गया होता है कि गाँव में किसी दूसरे परिवार को आवश्यकता होने पर यही वस्तुएं देनी होंगी। यह सब बातें पुराने इतिहास का अध्याय मात्र रह गई हैं। अपने पड़ोसियों की सहायता करना तो दूर रहा, हम लोग अपने संबंधियों के सुख-दुख को भी नहीं जानते। व्यक्ति के आदर्श ने संघ के आदर्श को निर्मूल कर दिया है। सहयोग के स्थान पर पृथक पृथक स्वार्थों का बोल बाला है, कर्तव्य का स्थान अधिकारों ने ले लिया हैं। अंग्रेजी की एक कहावत है कि प्रत्येक अंग्रेज का घर एक गढ़ है, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का घर उसके अधिकारों का गढ़ यानी सुरक्षित स्थान है। इस गढ़ के द्वारा ही समाज उसकी और उसके अधिकारों की रक्षा करता है। इस लोकोक्ति ने भारतवर्ष के शिक्षित लोगों पर अधिकार कर लिया है किन्तु हमारे घर

परिवार के निवासस्थान होने के अतिरिक्त गढ़ कभी नहीं थे, बल्कि वे अतिथिशाला, दीनों के लिये शरणगृह और लोकोपकारी कार्यों के केन्द्र थे।

विवाह का आदर्श

हिन्दू परिवार का मुख्य गुण यह है कि परिवार के सदस्यों और परिवार के बाहर निकट के संबन्धियों में बहुत गहरा गार्हस्थ्य प्रेम व्याप्त होता है। हिन्दू पति और स्त्री, हिन्दू पिता और माता, हिन्दू भाई और बहन, हिन्दू दामाद और पतोहू, तथा सास, ससुर, इनमें से प्रत्येक के लिये एक अध्याय की आवश्यकता है। यह बात सत्य है कि विवाह का आदर्श जो परिवार का आधार होता है आजकल के प्रेमोपासना के सिद्धान्त पर केन्द्रित नहीं हैं। हिन्दू परिवार में यह वास्तव में अज्ञात है और यदि प्रेमोपासना कुछ होती भी है तो कन्या के परिवार की वर के परिवार के साथ प्रेमोपासना होती है। इसमें पूर्ण सिद्धान्त एक डाल का दूसरे पेड़ से कलम बाँधने, एक कन्या का दूसरे परिवार से पेवन्द लगाने का है और यदि पेवन्द लगानी हो तो यह उस समय लगनी चाहिये जब वह कोमल हो और उसमें व्यक्तित्व का विकास न हुआ हो। वर और कन्या का चुनाव माता पिता करते हैं जो संयोग स्थापित करने के सर्वोत्तम उपायों और साधनों पर विचार करते हैं। यह मिलन दो व्यक्तियों में नहीं दो परिवारों में होता है। समाज संघबद्ध परिवारों का एक समूह बनजाता है। यह

निकट संबन्ध के बन्धन से जकड़ा होता है जिसमें प्रत्येक समुदाय के अन्दर स्वातंत्र्य की पूर्ण भावना रहती है किन्तु अन्तर्जातीय विवाहों से दूर रहकर यह समुदाय अपनी अखंडता, व्यक्तित्व और शुद्धता को सुरक्षित रखते हैं। परस्पर भोजन के संबन्ध में कुछ शिथिलता जरूर रहती है यह समुदाय स्नायु-जालों और पेशियों के रेशे के बंडल के सदृश है जो संबन्ध कराने वाले तन्तुओं और पर्दों से जुटे होते हैं, किन्तु एक समान केन्द्र से उत्पन्न एक समान आवेग का ये सब अनुसरण करते हैं। इस प्रकार निर्मित हिन्दू परिवार दृढ़ता के साथ अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी मुसलमानों और पंचमवर्ण के सेवकों के साथ भी एक समान अपने अतिथि सत्कार की भावना फैलाता है और उनके साथ बड़ी नर्मी और सावधानी के साथ व्यवहार करता है। यह वास्तव में एक ही केन्द्र को मानकर बनाने हुऐ वृत्तों की माला के समान है जिसमें केन्द्र से प्रत्येक परिधि तक स्नेह प्रस्फुटित होता रहता है, अतएव हिन्दू विवाह की भावना को समझने के लिये हमें इसको एक ठेका वा मनोवेग की बात न मानकर धार्मिक कृत्य रूप में देखना चाहिये।

पाश्चात्य संसार में विवाह के आदर्श के मूल में प्रेम का जो ऊँचा सिद्धान्त है उसे हम लोग जानते हैं। उनका आदर्श प्रथम साक्षात में ही प्रेम और बहुत उद्योग पूर्वक प्रेम भावना सिंचित और पल्लवित करना है, किन्तु निष्पक्ष आलोचक इस

बात को मानेगा कि पूर्व और पश्चिम दोनों ही में विवाह सफल और असफल दोनों ही हैं। और यदि प्रतिशत की गणना को ही अपना पथ-प्रदर्शक माना जाय तो भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही पद्धतियों के पक्ष में समान रूप से कुछ कहा जा सकता है। यदि विवाह को एक व्यावसायिक बात मान ली जाय तो भारतीय प्रणाली के लिये यह कोई लज्जा की बात नहीं हैं, किन्तु इसे एक प्रेमकाण्ड मान लिया जाय जिसमें अमेरिका के किसी रेलवे स्टेशन पर किसी गाड़ी के आधे घंटे खड़े होने के विश्राम काल में रेलवे स्टेशन पर ही तलाक दिया जा सके जिसका कारण मार्ग ही में स्त्री-पुरुष में कोई उत्पन्न हुई खटपट हो वा अमेरिका में हाल में ही प्रचलित हुई साल और दो साल के लिये प्रयोगात्मक प्रथा की ओर ध्यान दें वा फ्रांस के उन नियमों की ओर देखें जो विवाह होने के छः महीने के अन्दर उत्पन्न सन्तान को औरस घोषित करते हैं वा अंग्रेजी प्रणाली को देखें जो बहुत ही उचित रूप से किसी भी देश के निवासी व्यक्ति को उस अंगरेज कन्या से विवाह के लिये विवश करती है जिसको उस पुरुष ने छोड़ दिया हो तो इन बातों को देखकर पाश्चात्य पद्धति के पक्ष में अपनी राय देने के लिये हमें दो बार सोचना पड़ेगा, यदि विवाह प्रेम और नैतिकता के मध्य हो तो प्रेम का दमन कर भी नैतिकता का पक्ष लेने के लिये कोई बात आपत्ति की नहीं। स्थूल रूप से साधारण पुरुष और साधारण स्त्री के लिये

सर्वोत्तम मार्ग विवाह करना हमने मान लिया है। किन्तु फिर भी प्रत्येक पुरुष और स्त्री को अविवाहित रूप में अकेले रहने का आदर्श स्वीकार करने का अधिकार है। जब एक यह सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया जाय तो बाल-विवाह वा माता पिता द्वारा वर कन्याओं का निर्वाचन की बात आती है। हमें इन दोनों के विषय में कुछ कहना नहीं है। आधुनिक अवस्था में हमें परिवर्तन की आवश्यकता होसकती है और समाज-सुधारकों ने समाज का पुनर्संगठन करने और उसमें पुनर्जीवन और शक्ति लाने की चिन्ता की है। हम उनकी सफलता की आकाँक्षा करते हैं किन्तु प्राचीन प्रथाओं को भी समझने, उनकी पुनर्व्याख्या करने और आवश्यकता हो तो पुनरुद्धार करने की आवश्यकता है। किसी प्रकार भारत में बाल-विवाह की प्रथा केवल ऐसी जातियों में है जो कुल जनता का ३ प्रतिशत है। उनमें भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न व्यवस्था है।

प्रगाढ़ पारिवारिक प्रेम

हमने प्रसंग छोड़कर विवाह का प्रश्न इस लिये लिया था कि यह परिवार और परिवार के संबन्धों तथा स्नेहों का मूल है। स्नेह की बात विचार करने पर पहली विचारणीय बात यह है कि विवाहित पुत्र तुरन्त ही समाज की पृथक वस्तु नहीं मान लिया जाता। वह समाज से पृथक कर भटकने के लिये नहीं छोड़ दिया जाता। वह अब भी समाज का वैसा अंग बना रहता है जैसा कि पहले से रहता है और

उसकी स्त्री नवागत पुत्री की भाँति रहती है जिसके साथ नवागत व्यक्ति के भाँति ही बड़ी सावधानी और कोमलता के साथ व्यवहार किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सास और पतोहू में झगड़े खड़े होते हैं किन्तु वे इस कारण उत्पन्न होते हैं कि पुत्र की सेवा शुश्रूषा के लिये स्त्री और माता के बीच स्पर्द्धा होती है। उस स्पर्द्धा का यह अनिवार्य छोटा परिणाम होता है । माता अनुभव करती है कि वह पुत्र जिसको स्वयं उसने उत्पन्न किया है, जिसने उसका पालन पोषण किया है और उसे बड़ाकर शिक्षित किया है तथा जिसका विवाह कर उसे जीवन में स्थिर कर दिया है वह अब उसके हाथ से निकल गया है, उसके साथ कभी नहीं उठता-बैठता, घरेलू मामले में उससे कभी सलाह नहीं लेता और अपनी हृदय की एक रानी का दास बन गया है। जिस पुत्री की अपने पुत्र के लिये विवाह के पहले उसने महीनों प्रतीक्षा की, जिसके परिवार की उसने प्रेमोपासना की, जिसके साथ उसके पुत्र ने विवाह किया, जो कि उसके लिये पुत्री समान ही थी जब कि उसकी अपनी पुत्रियाँ घर छोड़ चुकीं थीं तथा जिस नवागत पुत्री पर उसने अपनी वृद्धावस्था पर सहायता का भरोसा रक्खा वही उसके पुत्र का हृदय चुराकर उसकी प्रतिद्वन्दिनी बन गई है, घर ही के अन्दर शत्रु बन गई है। मैंने इस चित्र का चित्रण भीषण रूप में किया है किन्तु इसमें कोई झूठी बात नहीं है। एक ओर तो ऐसी बात है किन्तु अब हमें यह

देखना चाहिये कि आधुनिक अवस्था ने हिन्दू परिवार के सदस्यों के प्रगाढ़ संबन्ध को जर्जर करदिया है। जब युवा पुरुष अपने कालेज की पढ़ाई समाप्त कर अपने गाँव लौटता है तो वह वहाँ अपने को देश में विदेशी की तरह अनुभव करता है।

नागरिक जीवन और छात्रावास के जीवन में यह प्रत्यक्ष असुविधा है कि वह उसे अपने भाइयों बहिनों के सामने पराया बना देता है। उसे अपने से अपने भाई में कोई बात मेल खाती हुई नहीं दिखलाई पड़ती, जिसकी रुचि और दृष्टिकोण देहाती होते हैं। कदाचित उसे कई वर्ष होगए हों जब से उसने अपनी ब्याही बहिन को न देखा हो, अपने भानजे को कभी न देखा हो और कालेज जीवन की भीड़-भाड़ में कदाचित वह अपने भाई, बहिनों और भतीजे-भतीजियों के विवाह में भी उपस्थित न होसका हो। अपने चाचा की मृत्यु के बाद संयोगवश उसने अपनी चाची को भी न देखा हो, और उसे यह बात भी न मालूम हो कि उसके चाचा तथा चाचियों. मामा और मामियों के कितनी संतानें हैं, अथवा उनका विवाह कहाँ हुआ है, उनकी अवस्था कैसी है। कालेज-जीवन की समाप्ति के बाद युवा पुरुष को इन संबन्धों का फिर से पता लगाना पड़ता है और शीघ्र ही उसके अन्दर इतने अधिक समय से सुप्त स्नेह-भावना जागृत हो उठती है। वह शीघ्र ही पूर्ण भव्यता और तेज के साथ प्रज्वलित हो उठती है।

उसको कोई सन्तान उत्पन्न होने तक उसमें अपने भतीजे भतीजियों के प्रति स्नेह उमड़ा रहता है। हिन्दू परिवार में नाती, पोते, दादा, और दादी की गोद में उसी प्रकार से स्नेह पाते हैं जिस तरह माता पिता की गोद में पाते हैं। हम युवा पुरुष के हृदय की भावनाएं, उसकी नित्य उन्नति तथा उसकी विस्तृत उदार भावना का वर्णन करते जा सकते हैं। किन्तु इतना ही वर्णन पर्याप्त है। मैं केवल यही प्रश्न करूंगा कि क्या कोई ऐसा भी हिन्दू परिवार है जिसमें परिवार के बाहर के कुछ बालक, कुछ भतीजे वा भतीजियें, दूर के संबन्धी वा बिना किसी संबन्ध के बालक सावधानी वा प्रेम के साथ न पाले जाते हों। आज कल के युवकों के लिये मैं यह उचित समझूँगा कि वे पिछली पीढ़ी के उच्च उदाहरण का अनुकरण करें।

स्त्रियों की स्थिति

इसके बाद से हिन्दू परिवार में स्त्रियों की स्थिति पर हमारा विचार जाता है। हम लोग बार बार यह सुनते आये हैं कि हिन्दू स्त्री अस्थावर सम्पत्ति की तरह मानी जाती है, उसकी कोई स्थिति वा व्यक्तित्व नहीं होता। फिर भी सच्चाई का इतना अधिक विकृत चित्रण देखने को अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। यदि स्त्री का पिता के यहाँ से पति के घर को जाना चल सम्पत्ति बनाता है तो दुनिया में कोई ऐसा देश नहीं जो इसका दोषी न हो, किन्तु संसार के किसी भी सभ्य देश से अधिक

भारत में, विशेष कर कुछ सम्पन्न अब्राह्मण जाति में केरल प्रांत में पतियों को ही स्त्री के घर भेजने की प्रणाली है। आन्ध्र देश की एक जाति में कन्या माता के पास रहती है, पति ही वहाँ जाकर दो तीन सन्तान होने तक रहता है। इसके बाद स्त्री अपनी सन्तानों के साथ अपने श्वसुर के घर जाती है। इसमें यह भावना है कि स्त्री नये परिवार में जाने के पहले अपनी एक स्थिति बनाले। उम्मेदवारी की यह अवधि इस मामले में बहुत थोड़ी है। इसमें दामाद को ही उम्मेदवारी करनी पड़ती है। उम्मेदवारी की प्रथा जीवन में सब लोगों को माननी पड़ती है। व्यापारी, यात्री, वकील और राजनीतिक नेता इन सब को उम्मेदवारी करनी पड़ती है। फिर स्त्री को क्यों न करनी पड़े भारत सेवक मंडल के सदस्य को भी अपने प्रारम्भिक कार्य काल के ५ वर्षों को किसी पुराने सदस्य के आधीन पूर्ण आज्ञा पालन के साथ बिताना पड़ता है। उस अवधि में बिना नियंत्रण और निरीक्षण के न तो वह कुछ बातचीत कर सकता है, न कुछ लिख सकता है, न कह सकता है। वकालत करने में नवीन वकील को किसी पुराने वकील के आधीन कुछ समय काम सीखना पड़ता है। इसी तरह दूसरी नौकरियों में भी उम्मेदवारी करनी पड़ती है। इस उम्मेदवारी की अवधि में उस की शक्तियां विकसित होती रहती हैं, मनोवेग जागृत होते रहते हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं की युवा पतोहू को करना पड़ता है। कुछ समय तक एक पुत्री की भाँति स्नेह के साथ उससे

व्यवहार किया जाता है। इसके बाद वह स्पर्द्धा की वस्तु बन जाती है। अन्त में वह अपने को घर की रानी बना लेती हैं, व्रत त्यौहार आदि के समय वह अपनी सास के गाँव वालों, संबन्धियों और मित्रों से परिचित होती है। वह शीघ्र नौकरों चाकरों पर नियंत्रण करने लगती है। घर के आय-व्यय का हिसाब हाथ में लेती है, दूध, दही की व्यवस्था हाथ में लेती है, अन्न का भण्डार सँभालती है। तथा खेती-बारी, नौकरों-चाकरों की व्यवस्था करती है। जब इसकी संतानें विवाह योग्य हो जाती हैं तो उनके विवाह के मामले में उसकी इच्छा ही मानी जाती है, उसीका निश्चय स्वीकार किया जाता है। पति घर का नाम मात्र का स्वामी होता है। उसे दिन भर अपना पसीना बहाना पड़ता है, परिवार के निर्वाह के लिये कमाना पड़ता है, खेत जोतना और बोना पड़ता है, एवं घर उठाना तथा सजाना पड़ता है। घर की रानी को अपने ढंग से व्यस्त रहना पड़ता है। उसे धूप में नहीं जाना पड़ सकता किन्तु उसे चूल्हे चक्की में फँसे रहना पड़ता है। हमलोग यह नहीं जानते किरसोई का सामान तैयार करने में कितनी झंझटें उठानी पड़ती हैं। चावल दाल से कंकड़ पत्थर निकालने पड़ते हैं. शाकभाजी धोनी पड़ती है। शाक की पत्तियों से कीड़े पतिंगे साफ करने पड़ते हैं। मसाले आदि से कूड़ा आदि साफ करना भी एक भारी बोझ उठाना या लम्बी यात्रा के समान काम है। जीवन में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान भाग लेती हैं। और उसके

लिये भी हिन्दू स्त्री को परिवार की मालकिन का पद शीघ्र प्राप्त हो जाता है। वह मताधिकार के लिये आन्दोलन करने वाली स्त्री नहीं होती। समानता एक विच्छेदक शक्ति है। यह एक में संयोग कराने वाली नहीं है। इसी कारण फ्रांस की राज्यक्रान्ति पूर्णतया असफल हुई और अठारहवीं शताब्दी की तुच्छ दलबन्दी की भावना ने १९ वीं शताब्दी की राष्ट्रीयता संयोगात्मक शक्ति को जन्म दिया है। प्रेम एक ऐसा गुण है जिसके साथ आदर की भावना होना आवश्यक है और पारस्पारिक आदर की भावना परस्पर एक दूसरे के आधीन रहने की भावना से उत्पन्न होती है। हिन्दू परिवार की सफलता के मूल में यही भावना सम्मिलित रहती है। जहाँ पति जीवन का विपरीत दृष्टिकोण रखता है और वह अपने को अपनी स्त्री से महान समझता है वह या तो पशु होजाता है या समाज में असफल व्यक्ति होजाता है।

आवेगों का संचार

हिन्दू परिवार बुद्धि और आवेग दोनों का शिक्षण स्थान है। जिस सावधानी के साथ हमारे आवेग शिक्षित किये जाते हैं, वह हम लोगों की आशाओं से भी अधिक होता है। शैशव काल के आरम्भ काल से जरावस्था के प्रकोप तक आवेगों के शिक्षण के पाठ सतत सिखलाये जाते हैं। महाकाव्य और ऐतिहासिक रुचि की कहानियाँ और लोककथाएं नित्य प्रति वृद्धा स्त्रियों द्वारा बच्चों को सुनाई जाती हैं। निर्धन परिवार

में प्रति दिन भिक्षा देनेकी परिपाटी प्रचलित है। यह बच्चों के हृदयों को विशाल बनाने वाला पहला अनुभव होता है। दुःख की बात है कि धनी घरों से यह परिपाटी उठती जा रही है। इस प्रकार दरिद्रों और उनकी असहाय अवस्था की ओर ध्यान आकर्षित होता है। एक हिन्दू परिवार में एक पाँच वर्ष के बालक को दया और सत्य के गुणों का बखान करने वाला भजन सिखाया गया था और उसको मोटे रूप से इसका यह अर्थ बतला दिया गया था कि दीनों के लिये सहायता की भावना मनुष्यों को रखनी चाहिये। अतएव जब उसका पिता अपने दरवाजे से एक भिक्षुक को खाली हाथ लौटा रहा था तो उस बालक ने पिता की भर्त्सना की कि क्या यही आपकी दया है, यही आपका सत्य है। इस प्रकार बालकों में दया आतिथ्य-सत्कार और उदारता की शिक्षा दी जाती है। हिन्दू परिवार में अतिथियों का सत्कार और सेवा शुश्रूषा एक अनोखी बात है। घर पर आये हुए अभ्यागत के लिये बहुत अधिक नियम बना दिये गए हैं। उसको बहुत ही अधिक सुविधाएं देने की व्यवस्था बतलाई गई है। भोजन करने के पहले घर के स्वामी को इस बात का निश्चित आदेश है कि वह द्वारपर जाकर देखले कि कोई अतिथि तो नहीं आया है। समय बतला कर वा सूचना देकर और बिना सूचना दिये हुऐ आने वाले दो प्रकार के अतिथि माने गये हैं। ये दोनों ही एक समान सत्कार के पात्र हैं। हम लोगों की इस लिये भर्त्सना की जाती है

कि हमारी दान-दक्षिणा संगठित नहीं है। यह बात सच है कि हम लोगों की सभ्यता एक संगठन नहीं है। यह भीतर से उत्पन्न स्वयंभूत और गहराई तक जड़ वाली है। यह कृत्रिम वा दिखावटी नहीं है। पूर्वीय देशों में प्रकृति की देन प्रचुर है। यह शीतोष्ण जलवायु से प्राप्त अनुग्रह है। और हमारी जातीय परम्परा के कारण हममें आध्यात्मिक प्रवृत्ति होती है। अतएव हमारी आवश्यकताएं बहुत कम हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिये हमें परिश्रम कम करना पड़ता है। इस लिये पाश्चात्य देशों में प्रचलित युद्ध के समय का संगठन सैनिकवाद और शान्ति के समय के संगठन उद्योगवाद की झंझटों में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं। यह तो पाश्चात्य देशों के जीवन का आधार है। ईश्वर को धन्यवाद है कि हम लोगों को अपनी बुद्धि और आवेगों को इस प्रकार विकसित करने के लिये स्वतन्त्रता है, जो मानव आत्मा और मानव मस्तिष्क के उपयुक्त हो।

धार्मिक वातावरण

यदि धर्म को ईश्वर की ओर बढाने के लिये मनुष्य में आवेगों का विकास माना जाय तो बालक के मस्तिष्क में धार्मिक प्रवृत्ति जागृत कराने के लिये परिवार ही सर्वोत्तम शिक्षण भूमि माना जासकता है। बालकों बलिकाओं के लिये सामाजिक जीवन की पूर्ण योजना धार्मिकता से पूर्ण होती है— आप मूर्तियों की पूजा में संलग्न न भी हों किन्तु हिन्दू माताओं

द्वारा बड़ी श्रद्धा से मनाए जाने वाले त्यौहार बच्चों में धर्म की भावना उत्पन्न किये बिना रह ही नहीं सकते। ये त्यौहार ऋतु मूलक हों वा ऐतिहासिक अथवा ज्योतिष के आधार पर अवलम्बित वे सब हमारे लिये प्रकृति को भक्ति पूर्ण उपासना, पूर्वजों की श्रद्धा पूर्वक प्रार्थना और ईश्वर के अवतार की अनुरक्ति पूर्ण आराधना निर्धारित करते हैं। हमारे देवी देवता आलोचकों द्वारा दानवाकार बतलाए जाते हैं। किन्तु धार्मिक कला को समझने के दृष्टिकोण के अतिरिक्त यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे देवता सौंदर्य की मूर्ति मानने के लिये नहीं बनाऐ गये हैं, और न वे बैठक वा आनन्दगेह की सजी हुई सुन्दरियों को हमारे घर के मन्दिरों में स्थान देने के लिये बनाए गये हैं। वहाँ उपासना के लिये वातावरण तैयार किया जाता है, तथा उसमें व्रत के साथ पूजा की योजना, प्रार्थना में गान और जागरण, भजन तथा संकीर्तन पर्वों के रीति-रस्म तथा उनके आनन्द और चहल-पहल, यह सब बातें इस प्रकार से व्यवस्थित की गई हैं कि शिशु, बालक, बालिका, युवा अधेड़, और वयस्क इन सबके मस्तिष्क के सर्वोत्तम गुणों को प्रस्फुटिव करें। हिन्दू परिवार में जायदाद के बटवारों में समानता का व्यवहार रक्खा जाता है। स्त्री को बड़ी ही कोमलता के साथ नए परिवार में बसाया जाता है। घरेलू प्रेम बडे ध्यान से स्थापित किया जाता है। दूर तक के संबन्धियों के साथ उदारता का व्यवहार रक्खा जाता है। और प्रारम्भ ही काल में बच्चों में

धार्मिक दृष्टि-कोण के उत्पन्न करने और आवेगों को विकसित करने का ध्यान रक्खा जाता है। ये सब हिन्दू परिवार के विशेष गुण हैं। मेरी दृष्टि में हिन्दू परिवार एक सुन्दर आर्थिक एकता का स्थल है और प्राथमिक सहयोग समिति है। यह एक आदर्श स्वास्थ्यप्रद आवास है। यह सांस्कृतिक और मनोवेगात्मक केन्द्र है। यह एक छोटा लोकोपकारी संगठन और पूर्ण उपासना-मन्दिर है। नवयुवकों और नवयुवतियों को इसके गम्भीर, उच्च शुद्ध, और पवित्र प्रभाव से पृथक करने की नीति को स्वीकार कर सकना बड़ा कठिन है। स्कूल और कालेज घर की शिक्षा और संस्कृति में वृद्धि कर सकते हैं पर उनका स्थान नहीं ले सकते। हिन्दू परिवार की रुढियों के बिना भारतीय राष्ट्रीयता आज से दस शताब्दियों पहले मृत होकर समाधिस्थ होगई होती। हम परिवार के घरेलू और सामाजिक दोनों प्रकार की न्यूनताओं को मानने के लिये स्वतन्त्र हैं इस परिवर्तन के युगकी परिवर्तनशील आवश्यकताओं से हम अपनी आँख कभी मूँद नहीं सकते विधवाओं की दुर्दशा कितने छद्म से छिपाये जाने पर भी अपनी पुकार से सभी लोगों के हृदय में अपने प्रति सहानुभूति और सुधार की भावना उत्पन्न करती है। और उनकी शिक्षा तथा आर्थिक और धार्मिक सुविधाएं बाल विवाह से उत्पन्न कठिनाइयों को भी दूर कर सकती हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उत्तराधिकार में परिवर्तन कर बालिकाओं को भी पिता की सम्पत्ति में अधि-

कार पाने की उसी प्रकार व्यवस्था की जाय जिसप्रकार से मुसलमानों में भी प्रचलित है। हमारा तात्पर्य हिन्दुओं के सामाजिक सुधार के विस्तृत क्षेत्र में पड़ने का नहीं। हमारा अभिप्राय इतना ही है कि हमारा ध्यान हिन्दू धर्म के प्राचीन आदर्शों और शताब्दियों से जर्जरित रहते हुए इसमें अबतक बचे हुए गुणों की ओर जाय। हमें यह देखकर संतोष हुए बिना न रहेगा कि इन पंक्तियों को पढ़ने का जिन पाठकों को अवसर होगा उनमें हिन्दू स्त्री के लिये अधिक आदर की भावना उत्पन्न हो और उसके प्रति इन बातों के कारण अधिक सहानुभूति उत्पन्न हो कि वह बहन, स्त्री, और माता के पद पर रहती हुई अपने कठिन कर्तव्यों का पालन करती हुई राष्ट्रीय संस्कार का कोष तथा भारतीय राष्ट्रीयता के प्रचुर और असीम भंडारकी रक्षकहै।

२—हिन्दू परिवार में कला

हिन्दू समाज और हिन्दू परिवार के विरुद्ध लोग यह दोषारोपण किया करते हैं कि यह अत्यन्त धार्मिक है। इस संबन्ध की वास्तविकता स्वीकार करने योग्य है, किन्तु इसमें बतलाये जाने वाले अभियोग सत्य नहीं हैं, हिन्दू अत्यधिक नहीं होता बल्कि आवश्यक रूप से कलात्मक होता है। किन्तु धार्मिक ही दोनों में विपरीतता नहीं होती।, क्योंकि हिन्दू कला अपने परिणाम में सौन्दर्यात्मक होकर मुख्य रूप से धार्मिक होती है। जिस प्रकार कला धर्म में प्रस्फुटित होती है ठीक उसी प्रकार धर्म रचनात्मक कला द्वारा अपनी सांकेतिक अभिव्यक्ति करता है। यदि सभी कला रेखाओं, रंगों, संगीत, ताल, छेनियों और तूलिकाओं द्वारा आवेगों की अभिव्यक्ति है तो हिन्दुओं का घर मुख्यद्वार से लेकर गोशाला तक कलात्मक वातावरण से परिपूर्ण रहता है। और यह अंगीभूत कला न तो वास्तविक का भद्दा अनुकरण होती है और न आदर्श का ऊटपटाँग चित्रण बल्कि वह उन अनिवार्य संकेतों और परम्पराओं के अनुसार निर्मित होती है जो इन्द्रियगोचरता की वस्तविकता के भाव और कल्पना की उच्चतर दृष्टि के अनुरूप ही न बनने बल्कि उसी में अभिभूत होजाने की क्रिया द्वारा

उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं के घर, परिवार स्थापत्य कला तथा देवी देवता जिनका और अधिक नाम न लेकर भारतीय शब्द से ही बोध करा सकते हैं पाश्चात्य दर्शकों को दानवाकार और विलक्षण रूप के जान पड़ते हैं। उनकी दृष्टि में तो सभी कला भौतिक सौन्दर्य का ही चित्रण होती है। भाग्य से पाश्चात्य विचारों के प्रहार से बचकर हम जीवित रह सके हैं। तथा एक बार फिर हम अपनी संस्थाओं और सफलताओं की व्याख्या में रुचि उत्पन्न करने लगे हैं। जब कोई योरोपीय यात्री पहले भारत के द्वार, बम्बई नगर में उतरता है, तो सबसे पहले उसका ध्यान वहाँ पैदल चलने वालों की वेश भूषा के भव्य रूप से मेल खाते हुए मनोहारी रंगों को देखता है। जाट हो या मारवाड़ी, हिन्दू हो या पारसी, मुसलमान हो या ईसाई, किसी भी वर्ण की भारतीय स्त्री जो भाग्यवश दक्षिणी और पश्चिमी भारत में परदा का झंझट नहीं पालती, रंग परखने का इतना सूक्ष्म और भव्य गुण प्रदर्शित करती है, कि वह साड़ी के रंग से ठीक २ मेल खाती हुई चोली के रंग का चुनाव करना जानती है। वह भिन्न २ रंग के जो वस्त्र पहने रहती हैं उस रंग से ही ठीक मेल खाते हुए आभूषण और फूल उसके शरीर पर धारण किये हुए मिलते हैं। इतना ही नहीं पाँच दिन तक होने वाले विवाहोत्सव में उसे इस बात का बिलकुल ठीक ज्ञान होता है कि सफेद घांघरों की लहराती हुई चुन्नट पर नीली ब्लाउज कितनी सुन्दर लगती है तथा कत्थई रंग पर

सफेद तथा हल्के पीले रंग पर काले रंग का मेल कितना सुन्दर लगता है। पुरुषों में रंगों की व्यवस्था उलट जाती है। धारी और सिकुड़न की ठीक व्यवस्था करना भी स्त्री को मालूम होती है। साड़ी में क्लिप लगाने की शैली भी भारतीय स्त्रियों के शरीर के रूप रंग के अनुकूल रक्खी जाती है जिससे लोगों की भावना को कुछ क्षोभ न हो। भारतवर्ष में स्त्रियों में सौभाग्य चिन्ह और पुरुषों में तिलक लगाने की परिपाटी है। पुरुषों में यह विभिन्न रूप से विभिन्न अनुपातों में प्रयुक्त होता है, उनमें से कुछ में तो कला की अपेक्षा धार्मिक अंश ही अधिक होता है। स्त्रियों में सौभाग्य-चिन्ह सिन्दूर का होता है। कहीं पर यह साबूदाना की राख को रंगकर और उबालकर बनता है। और कहीं कहीं शुद्ध कुंकुम का बना होता है। दक्षिण देशों में महाराष्ट्र, आन्ध्र वा गुजराती स्त्रियां एक समान माथे पर बिन्दी देती हैं, किन्तु बंगाल, युक्तप्रांत, पञ्जाब आदि में मांग काढ़कर सिन्दूर लगातीं हैं। ये बिन्दी वा सिन्दूर स्त्री की मुखाकृति की शोभा बढ़ाते हैं। यह सौभाग्य-चिन्ह हमारे भारतवर्ष की विशेषता है। भारतवर्ष को अपनी इस प्रथा का गर्व है जिसमें कला और धर्म दोनों का संयोग होता है। परिवार में वा सम्बन्धियों में किसी की मृत्यु होने पर अशौच काल में सौभाग्य-चिन्ह लगाने का निषेध होता है। सौभाग्य चिन्ह स्त्री के लिये आभूषण सा होता है। अतएव विधवा वा वैरागिनी स्त्री को इसके लगाने का निषेध किया गया है। यह

एक सर्वविदित बात है कि भारतीय संस्कृति में अपनी अभिव्यक्ति के लिये गद्य के स्थान पर कविता का साधन अतीत काल से अंगीकृत हुआ है। वास्तु कला से लेकर ज्योतिष तक, अश्व-विज्ञान से लेकर युद्ध विज्ञान तक, गणित से लेकर नीति-शास्त्र तक, तथा उत्तराधिकार के नियमों से लेकर संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों तक सब कुछ पद्य ही है। किन्तु सबसे अधिक मनोरंजक बात हिन्दू स्त्रियों की बिना सिखाई हुई संस्कृति है। वे अशिक्षित होकर भी संस्कृत हो सकती हैं। वे रामायण और महाभारत के कथाओं की और सावित्री सत्यवान की कथाओं को याद रखतीं हैं और गानों में भी उनको दोहराती हैं। राम का बनवास, सीता जी की विदाई, लक्ष्मण का भ्रातृ प्रेम यह सब कथाऐं घरेलू पाठ के समान प्रत्येक पुत्री को अपनी धर्म माता द्वारा सुन्दर गानों के रूप में सिखाई जातीं हैं। इसमें भी और कला का संयोग होता है। जिन गानों द्वारा नई पुत्र-बधू पति, सास-ससुर आदि को सौंपी जाती है, वह करुणा से ओत-प्रोत होता है और उनको सुनकर अपरिचितों और संबन्धियों की आँखों में भी आँसू भर आते हैं। हम यहाँ पर दक्षिण भारत में एक विशेष उत्सव के समय होने वाली खिलौनों की प्रदर्शिनी की चर्चा करना असंगत नहीं समझते। कुछ स्थानों पर यह प्रदर्शिनी दशहरा के समय और कुछ स्थानों पर संक्रान्ति के समय होती है। यह वास्तव में कलाप्रदर्शिनी होती है। इसमें भाँति २ के खिलौनों का जमघट होता है। विजगापट्टम और

मैसूर के सुन्दर खिलौने, कृष्णा के लकड़ी के सुन्दर सजीव खिलौने, लखनऊ की चीनी मिट्टी की मूर्त्तियाँ, तिरुपति के चंदन के खिलौने, ट्रावंकोर और विजगापट्टम के हाथी दाँत और चन्दन पर काम किये हुए नमूने, चित्तौड़ के सुन्दर मिट्टी के बने खिलौने, आगरा की सुन्दर संगमरमर की बनी हुई चीजें, बनारस की सुन्दर पीतल की नक्काशी हुई चीजें, काठियावाड़ के नक्काशी किये हुए चाँदी के सामान तथा अन्य स्थानों से लाई हुई चीजें वहाँ पर एकत्र की जाती हैं। इन प्रदर्शिनियों में कला की कितनी सुन्दर चीजों का प्रदर्शन होता है। विलायत के चीनी मिट्टी के निर्जीव फीके खिलौनों ने भारतीय कला-कौशल को विनष्ट कर दिया है और हमारी रुचि को भ्रष्ट कर दिया है। किन्तु सौभाग्यवश हम, हमारी स्त्रियाँ और हमारे बच्चे प्राचीन कला कौशल का पुनरुद्धार कर रहे हैं। तथा अपने घरों में उनकी स्थापना कर रहे हैं।

बनों में भ्रमण करनेवाले खानाबदोश लोगों में भी कलात्मक भावना रहती है। वे जो चिथड़े की तरह का मोटा पुराना घाँघरा पहिनते हैं, जिसमें कौड़ियाँ लगी होती हैं, जिसमें ऊपर से नीचे तक रंग-विरंग की लहरें विचित्र रूप से दिखलाई पड़ती हैं उनमें भी अपने ढँग की एक कला होती है। उस कला पर ध्यान जाने के लिये उनपर जमी हुई धूल मिट्टी की बात भुला देनी चाहिये। अंग्रेजी घर कलात्मक होता है लेकिन उसकी कला सिर्फ बैठक तक ही होती है। सौन्दर्य्य और

रुचि का निवास स्थान होने के स्थान पर विचित्र वस्तुओं की प्रदर्शिनी ही होता है। इसके विरुद्ध भारतीय घर भीतर से बाहर तक कलात्मक होता है। बड़े जलपात्र से लेकर छोटी कटोरियों तक बर्तनों में भी शिल्पी की रुचि और बुद्धिमत्ता प्रदर्शित होती है। पीतल व ताँबे के गिलासों तक में नक्काशी की हुई होती है। तथा चाँदी और अष्टधातु के बने हुए सामान भी अनेक प्रकार के और बड़े सुन्दर होते हैं। भोजन बनाने के पात्र भी बड़ी कुशलता से बने होते हैं। किन्तु यदि चाँदी के बर्तनों, थालियों, पानदानों, चन्दन की सुराहियों, गुलाबपाश, सरौता, अतरदान आदि को आप देखें तो आपको शिल्पकार की बुद्धि और भव्य मौलिकता प्रदर्शित हुए बिना नहीं रह सकती। पिछले दिनों में कारीगरी की गई हुई वस्तुओं के स्थान पर सादी वस्तुओं के रखने का आदर्श ही प्रचलित हो चला था किन्तु सौभाग्यवश आज हमारे चारों ओर जो पुनरुत्थान दिखाई पड़ रहा है उसके कारण हम लोग अपनी प्राचीन वृत्तियों का पुनरुत्थान कर रहे हैं। अब चाँदी की तश्तरियों के रूप का आकार या तो कमल के पत्ते का रक्खा जाने लगा है वा बादाम, बर्गद वा केले की पत्तियों के अनुरूप उनकी रचना की जाती है। हिन्दू परिवार में दिखाई पड़ने वाली पीतल की सबसे सुन्दर बनी हुई वस्तु दीवट ही होती है। तथा देवी देवताओं की मूर्तियाँ, पार्वती नटराज, दक्षिणामूर्ति, सरस्वती, गोपालबाल, वेणुगोपाल आदि की मूर्तियाँ तथा शालिग्राम तथा

देवार्चन के समय प्रयुक्त होने वाले घंटे घड़ियाल आदि सभी वस्तुएं हमारे राष्ट्रीय रुचि की सूक्ष्मता घोषित करती हैं। हिन्दुओं के घर सामान आदि की दृष्टि से भी कम कलात्मक दृष्टिकोण के नहीं होते। भारतीय कालीन भव्यता का एक ऊँचा नमूना होती है। टिकाऊपन में यह श्रेष्ठ वस्तु बेजोड़ होती है। इसकी चित्रकारी अपूर्व होती है और इसमें गहरे लाल, हरे, नीले, श्वेत और गुलाबी आदि देशी रंगों का मेल अद्भुत होता है। शोक की बात है कि हम लोगों की दुरवस्था के कारण इस प्रकार के गलीचे अतीत काल की वस्तु हो गए हैं और भारतीय पुनरुत्थान के प्रवर्तकों द्वारा अत्यधिक समय लगाकर तथा कष्ट उठाकर इनका पुनरुद्धार हो रहा है। भारतीय दुशाले भी बेल-बूटे के सुन्दर कामों के लिये प्रसिद्ध हैं। हाथ से कढ़ी हुई किनारीदार साड़ियां दो दो, तीन तीन हजार तक की मिलती हैं। रेशम और गोटे से बने हुए कसीदों में सालों लग जाते हैं और वे हमारे देश के कारीगरों की बुद्धि और धैर्य के प्रमाण होते हैं।

यदि आप सड़क पर भी चलें तो आप यह बतला सकते हैं कि कौन से घर मुसलमानों और ईसाइयों के हैं और कौन से हिन्दुओं के। सड़क पर से ही हमारी आँखों के सामने आने वाली बातें मंगलसूचक चिन्ह तथा हल्दी और कुंकुम के छींटे हिन्दुओं के घरों में द्वार के ऊपर दिखलाई पड़ेंगे। उनमें किवाड़ों में सुन्दर नक्काशी की हुई मिलेगी। संपन्न घरों में चौखटों पर

दशावतार की मूर्तियाँ गढ़ी हुई होती हैं तथा नक्काशी में बेल और पत्तियों के बीच में मोर और तोते बनाए हुए मिलते हैं। उत्सवों और पर्वों के अवसर पर आम और अशोक की पत्तियों के तोरण तो सदा ही लटकाए मिलते हैं। कागज की झंडियों और सजावट की बात तो आज कल के युग की है। आप जब घर के भीतर जाते हैं तो आपको ५ प्रकार के कारीगरों के बनाए हुए कलात्मक कार्यों का जमघट सा मिलता है। बढ़ई के बनाए हुए कामों में कमल के फूल कढ़े हुए दिखलाई पड़ते है। खंभों और दीवालों में राजगीर के काम दिखलाई पड़ते हैं। आभूषणों, पानदानों, इत्रदानों, गिलासों तथा तश्तरियों में सुनार की कारीगरी दिखलाई पड़ती है। कुम्हार का काम सुन्दर झज्झर रूप में दिखाई पड़ता है। लोहार का काम सुनार के बहुमूल्य धातुओं के स्थान पर लोहा जैसे सस्ते धातु पर ताला, कुञ्जी, लोहा आदि में मिलता है। इसके पश्चात् हमें स्त्री और पुरुष अपने ढीले ढाले पहनावे के साथ दिखलाई पड़ते हैं। पाश्चात्य देशों के पुरुषों के तंग पायजामा पतलून और स्त्रियों के छोटे घांघरे की अपेक्षा हम लोगों के ढीले-ढाले पहनावे हम लोगों के विस्तृत दृष्टि-कोण को प्रकट करते हैं। हम लोगों के घर के देवी देवताओं का पवित्र स्थान भव्य बनाए गए मंडप को हमारे सम्मुख रखता है जहाँ हल्दी और कुंकुम के लेपों, फूलों तथा अगरबत्तियों की शोभा दिखलाई पड़ती है। मकान के पिछले भाग में बराण्डे के बगल में तुलसी-कोट

होता है। यह ईंटों और मसालों से बना हुआ तुलसी के पौधे लगाने का स्थान होता है। तुलसी की पूजा धनी और निर्धन सभी घरों में होती है। इस तुलसी के थाले को घर का स्वामी अपनी स्थिति के अनुसार सुन्दर से सुन्दर बनवाता है। हमारी राष्ट्रीय रुचि के अधःपात पर विचार करना बड़ा ही विचारपूर्ण है जिसमें विदेशों की बनी हुई दरियाँ, लालटेनें बेकार वस्तु तथा रद्दी सामान हिन्दू घरों में भरे पड़े हैं। किन्तु भारतीय पुनरुत्थान के प्रयत्न के कारण भारतीय घरों को उचित अध्ययन का अवसर मिल रहा है और यदि भारतीय घरों को स्फूर्ति, उन्नति और सौन्दर्य का वह आधार बनाना हो जो कभी पूर्वकाल में था तो उसके लिये हम अपना जितना ही अधिक समय और ध्यान इसमें संलग्न कर सकेंगे उतनी ही हमारी भारतीय राष्ट्रीयता वैभव-पूर्ण और पवित्र बन सकेगी।

३—हिन्दू परिवार की एक झाँकी

संयुक्त परिवार

पाश्चात्य विचारों में डूबे हुए व्यक्तियों की दृष्टि में हिन्दुओं का संयुक्त परिवार एक पहेली है, जहाँ पचास वर्ष की आयु तक पहुँचे हुए भाई अपने युवावस्था प्राप्त हुए पुत्रों, पौत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ एक ही घर के अन्दर भीड़भाड़ में रहना पसन्द करते हैं और निरंतर झंझटपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। यह बात पाश्चात्य लोगों की समझ में बिलकुल ही नहीं आती, जो व्यष्टिवादी आदर्शों में ही पले होते हैं। हम इस विषय में जाति संबंधी पहलू पर विचार न करेंगे। इसमें एक आर्थिक पहलू भी है और उससे भी सुन्दर मानवीय दृष्टिकोण भी है। अधेड़ अवस्था प्राप्त हुए तीन-चार भाइयों के बीच ४०-५० बीघे जमीन खेती के लिये आवश्यक जानवरों और नौकरों के मौजूद होने पर सब भाइयों के लिये ही पूर्ण कार्य नहीं होता बल्कि परिवार के युवा और अल्पवयस्क भी इसके कामों में जुटे रह सकते हैं। एक भाई खेती का काम देखता है, तो दूसरा भाई चौपायों को चारा पानी देता वा उनकी रखवाली करता है और तीसरा भाई घरेलू धंधे में पड़ता है। यदि परिवार में किसी बच्चे को ज्वर आजाय तो वह उसके दवा दारू का प्रबन्ध करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता है।

घरबार देखनेवाला यह भाई सप्ताह में एक या दो बार लगने वाले देहात के हाट से घरबार के लिये आवश्यक वस्तुएँ खरीद लाता है। वह रुपये पैसे के मामले को भी देखता है, ऋण लेता-देता है और घर के आय-व्यय को सँभालता है। यदि गहने बनवाने हों, शादी तै करनी हो वा विवाह-संस्कार कराना हो तो उसकी ही बात मानी जाती है। खेती में लगा हुआ पुरुष सदा कड़ी धूप वा मूसलाधार बारिश के समय भी अपने खेती के काम में जाता है और खेत की मेड़ों पर खड़े होकर जुताई, बुवाई वा फसल की कटाई करवाता है। घर में किसी के बीमार हो जाने पर उसका काम नहीं रुकता। परिवार के सदस्यों को छोड़कर दूसरों के विवाह में वह अपने निश्चित कार्यों को छोड़कर कभी नहीं जाता। तीसरे भाई का काम घर और खेत के बीच होता है। उसके जिम्मे चौपायों का काम होता है, नए चौपाए खरीदने पड़ते हैं और पुरानों की सेवा करनी होती है। किसी प्यारी गाय वा नए पैदा हुए बछड़े को कोई मामूली भी रोग होजाय तो उसको बड़ी परेशानी हो जाती है। जानवरों को घास भूसा और खली उचित मात्रा में दिलवाने का ध्यान रखना पड़ता है। दूध दुहाने और जानवरों के बँधवाने का भी उसे ध्यान रहता है। अपने छुट्टी के समय वह गाँव के साहूकार के लिये हिसाब किताब करने, बही खाते आदि लिखने में लग सकता है। यदि परिवार के छोटे बच्चे नगर रूपी जेलों में अध्यापकों रूपी जेलरों की देख-

रेख में न रख दिये गये हों तो वे परिवार के इन एक या दूसरे प्रकार के अनेक कामों में संलग्न होते हैं।

संयुक्त परिवार एक सीमा तक एक ढंग से चलता है। यह परिवार का संयोग भाइयों के बीच वा एक पिता और उसके पुत्रों के बीच हो सकता है। हिन्दू परिवार की पैतृक संपत्ति में प्रत्येक पुत्र को एक एक भाग देने की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के ही कारण हिन्दू घरों में उपयुक्त अवसर आने पर एक पुत्र दूसरे से पृथक होता है। इस प्रकार खेतों के इतने छोटे टुकड़े होने लगे हैं कि एक एक खेत किसी समय कुछ बिस्वों के रह जाते हैं। मिश्र देश में एक ऐसा राजकीय नियम है कि कोई खेत पाँच एकड़ से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार हमारे देश में भी कोई नियम बनने की आवश्यकता है। परिवार के टुकड़े टुकड़े होने को बहुत अधिक दिनों से एक विपत्ति समझा जाता है। यह परिवार की सामाजिक स्थिति को एक बड़ा धक्का माना जाता है और उसकी प्रतिष्ठा पर एक कलंक समझा जाता है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि यह आर्थिक विपत्ति भी है, किन्तु बिना यथेष्ट और पर्याप्त कारण के परिवारों में बँटवारा नहीं होता। लोकोक्ति है कि दो स्त्रियाँ कहीं एकत्र नहीं रह सकतीं। कदाचित यह कहना स्त्रियों के साथ अन्याय करना है किन्तु उन्हें एक दूसरे के साथ सतत संपर्क में रहना पड़ता है। उनके साथ बच्चे भी होते हैं। इन कारणों से सैकड़ों अड़चनें आ खड़ी होती रहती

हैं। इस कारण पुरुषों की अपेक्षा उनमें भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसके साथ ही पुरुषों को भी दोष दिये बिना नहीं रहा जा सकता। जहाँ एक ओर खेतों में काम करने वाला भाई दिन भर कड़ी धूप और आँधी पानी में भी खेतों में अपना पसीना बहाता रहता है वहाँ रुपयों पैसों का लेनदेन करने वाला भाई अपने बच्चों के लिये कुछ बढ़िया चीजें लादेता है, अपनी स्त्री के लिये कोई बढ़िया साड़ी खरीद देता है वा गुप्त रूप से कुछ गहने बनवा देता है। इन कारणों से ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है किन्तु इस प्रकार की उत्पन्न ईर्ष्या कुछ दिन तक दबी रहती है और जब माँ अपने बच्चों को कुछ अधिक दही वा घी दे देती है किन्तु अपनी जेठानियों और देवरानियों के बच्चों को नहीं पूछती तो वह दबी हुई ईर्ष्या जब तब उभड़ पड़ती है। जो आग कुछ समय तक धीरे-धीरे सुलगती रहती है वह भड़कने लगती है। तीनों स्त्रियों में से कोई उस समय किसी प्रकार अपने मैके चली जाती है जब उसके देवर वा जेठ की स्त्री वा पुत्री बीमार पड़ने को होती है या उनका कोई बच्चा बीमार पड़ता है और इन सब झंझटों का निपटारा न होने तक ससुराल में आना अस्वीकार कर देती है। ऐसा कोई अवसर आने पर विवाद उठ खड़ा होता है और स्त्रियों की ईर्ष्या पुरुषों में भी पैदा हो जाती है तथा एक दिन बटवारा हो जाता है।

प्राचीन हिन्दू संयुक्त परिवार और उसके आधारभूत उच्च-

आदर्शों के दिन पर दिन बिखरते जाने में आधुनिक जीवन की अवस्थाओं ने कम भाग नहीं लिया है। बड़ा भाई कदाचित गाँव का मुखिया होता है। वह बड़े गर्व के साथ अपने छोटे भाई को शिक्षा दिलाता है। जिस छोटे भाई पर परिवार का धन पानी की तरह बहाया जाता है वह वकील या डाक्टर बन जाता है तथा किसी नगर या कस्बे में जमकर घर से रुपये की माँग करता है। उसकी माँग बार-बार बढ़ती जाती है। वह घर पर संवाद भेजता है कि "खेती की अच्छी व्यवस्था करो और मेरे पास मकान भाड़े तथा गाड़ी क्लर्क तथा बावर्ची और आनन्दोपभोग की वस्तुओं के लिये अधिक रुपये भेजो।" एक दिन ऐसा आ जाता है जब कि वह अपने भाई से उपज तथा गायों बैलों में से अपना हिस्सा चाहता है, पिछले २५ वर्षों का हिसाब किताब माँगता है, भाई के लिये हुए ऋणों पर नाक भौं सिकोड़ता है और उसके लेन-देन को अनुचित बतलाता है। वह शीघ्र ही कोई अवसर आने पर, जो कदाचित उसके भाई की पुत्री का विवाहोत्सव होता है अपने भाई के पास एक रजिस्ट्री चिट्ठी भेजता है जिसमें बतलाया गया होता है कि वह परिवार से पृथक हो गया है। वह किसी स्थानीय साप्ताहिक पत्र में इसी भाव का कोई विज्ञापन निकाल देता है। और जब उसका भोला भाला बड़ा भाई उससे पूछता है कि इन बातों के क्या अर्थ हैं तो वह प्रिवी कौंसिल के नये से नये फैसलों और हाईकोर्टों की नज़ीरों का हवाला देता है। ऐसे

समय में विवाह का समय निकट आने लगता है किन्तु भाई कहीं भी ऋण पाने में असमर्थ होता है। ऋण-दाताओं को पहले से ही सूचना मिल गई होती है कि परिवार में पहले ही बटवारा होगया है। पुराने ऋण झमेले में पड़ गये होते हैं, और नये ऋण लेना असंभव हो जाता है। बड़े भाई को यह सिद्ध करने के लिये कहा जाता है कि ऋण परिवार की आवश्यकता से लिये लिए गये थे और उसे यह भी सिद्ध करने के लिये कहा जाता है कि उसे उसके बृद्ध, कदाचित मृत, पिता ने परिवार का प्रबन्धक नियुक्त किया था। बड़े भाई ने वकालत वा डाक्टरी की शिक्षा नहीं प्राप्त की। उसने केवल छोटे भाई और वृद्ध पिता की सेवा की। उसने वृद्ध पिता की मौखिक आज्ञाओं का पालन किया और छोटे भाई की तेज मांगों को पूरा करने के लिये धन प्राप्त किया। उसने समय-समय पर किसी बहन की शादी वा किसी भाई की शिक्षा अथवा किसी मुकदमे की पैरवी करने वा कोई जमीन खरीदने के लिये ऋण लिये। उसने इन्हें अपने रोजनामचे में कहीं टाँक लिया और अपने हिसाब को एक वेतनभोगी क्लर्क की तरह नहीं, बल्कि एक अवैतनिक स्वामी की भांति रक्खा। अन्त में मामला कचहरी में पहुँचता है और उसका हिसाब-किताब बेढङ्गा और अविश्वसनीय सिद्ध होता है। तब उसे जीवन में पहले पहल यह अनुभव होता है कि एक परिवार में सब से ज्येष्ठ पुत्र होने के दुर्भाग्य से बढ़कर कोई सरी बात नहीं होती। ज्येष्ठ पुत्र को कोई विशेषा-

धिकार नहीं होता, किन्तु उत्तरदायित्व होता है। विशेषाधिकार तो उसे पिता द्वारा नहीं मिला होता और उत्तरदायित्व लेने की विवशता भाइयों और बहिनों के द्वारा होती है। सबसे कनिष्ठ भाई को न तो किसी कनिष्ठ भाई को शिक्षा देने की चिन्ता करनी पड़ती है और न किसी कनिष्ठ बहिन का विवाह करना होता है। उसकी आय निजी होती है क्योंकि वह उसकी विद्या से प्राप्त होती है। और वह अपने भाई से खेती की उपज में से अपना हिस्सा देने के लिये कहता है। यदि पिता जीवित रहता है तो वह इनके बीच कोई समझौता नहीं करा सकता। वह बड़े पुत्र को कुप्रबन्ध के लिये उपालम्भ देता है और सबसे छोटे पुत्र को यह विश्वास दिला सकने में असमर्थ हो सकता है कि घरेलू ढङ्ग पर चलने वाली व्यवस्था में बिलकुल ठीक हिसाब-किताब नहीं रखा जा सकता। कुछ ही समय में गहनों का भी हिसाब-किताब किया जाता है और सब पुत्र एक साथ मिलकर पिता से इस कारण विवाद करते हैं कि माता के पास एक हजार रुपये अलग क्यों रक्खे हैं। जब यह सब तै हो जाता है तो सब पुत्र एकबार फिर एक होकर पिता से इस बात के लिये झगड़ा करते हैं कि इस वृद्धावस्था में जायदाद में उसे अपना हिस्सा लगाने की क्या जरूरत है। वे इस बात का प्रश्न भी उठाने लगते हैं कि क्या पिता को मकान जायदाद आदि पुत्रों के नाम कर देना स्वीकृत है और क्या वह इस प्रकार का कोई वसीयतनामा लिख देगा क्योंकि

यदि दैवयोग से एक क्षण किसी भीषण रोग से अचेत हो जांय वा जीवन भर के लिये अत्यन्त अशक्त हो जांय तो उस समय क्या किया जा सकता है। यदि कहीं विमाता हो तब तो और भी झमेले खड़े हो उठते हैं। इस प्रकार एक दिन परिवार का बटवारा होही जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश किसी भी परिवार का बटवारा मित्रभाव से नहीं होता। पिता और माता अपने वयस्क पुत्रों को अलग-अलग घर बनाते हुए देखते हैं जो इन्हें वृद्धावस्था में अकेले छोड़ देते हैं। क्या ये वही पुत्र हैं जिनको माता ने अपनी कोख में नौ मास और तीन दिन तक रक्खा, जिनकी उत्पत्ति के समय वह लगभग अपना जीवन दे चुकी थी, जिनके लड़कपन में उसने महीनों निराहार बिताये, जिनके कुमार होने पर वह हर्षित और गौरवान्वित हुई तथा जिनके वयस्क होने पर वह आज पृथक है तथा उसके एकाकी और उपेक्षित जीवन और उसकी विपत्ति और कष्टों का कुछ ठिकाना नहीं ?

४—हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन की झाँकी

परिवार का घर

हिन्दुओं के परिवार के विषय में कुछ निश्चित स्थूल बातें वा गुण हैं जो हिन्दुओं के जीवन और विचार का सारांश माने जा सकते हैं। हम इससे एक पग आगे बढ़कर यह भी कह सकते हैं कि वे भारतीय जीवन के सारांश हैं। हिन्दुओं के घर में सबसे पहले उल्लेखनीय बात यह होती है कि वे अधिक विशाल होते हैं। बीच का आँगन हवा और रोशनी आने के लिये जान पड़ता है। स्वास्थ्य का विचार करने वाले लोग आँगन का रक्खा जाना केवल एक स्वास्थ्यप्रद साधन मान सकते हैं। किन्तु इसका उपयोग कुछ और भी होता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि एक वा दूसरी ओर के बरामदे और कमरों की खिड़कियों और दरवाजों से होकर हवा के झोंके आँगन में आने का मार्ग पाते हैं। पहले घरों में विस्तृत आँगन रक्खे जाते थे जिससे ताराच्छादित गगन-मण्डल और नीलाकाश दृष्टिगोचर हो सकता था, किन्तु क्षोभ की बात है कि धीरे-धीरे उसका विस्तार कम होता जाता है। अनेक स्थानों पर तो घरों से आँगन का सर्वथा लोप ही होता जा रहा है तथा वर्षा और चोरी से बचने के लिये लोग घर में आँगन का न रहना अच्छा समझने लगे हैं, किन्तु घर में आँगन रहना हमारे यहाँ की

प्राचीन परिपाटी है। घर में आँगन होने का यह दृष्टिकोण रक्खा जाता है कि कितने मनुष्यों को बिना कोई पृथक प्रबन्ध किये अपने घर में ही एक साथ बैठाया जा सकता है। आँगन के चारों ओर के बने हुए बरामदों और दालानों में दो सौ मनुष्यों के एक साथ बैठने की व्यवस्था की जाती है तथा अनेक श्रद्धा-वान हिन्दुओं को इस बात का गर्व होता है कि वे एक सहस्र अतिथियों को अपने घर में एक साथ बैठाकर भोजन करा सकते हैं। वे आदर्श लुप्त हो चुके हैं। उनका नाममात्र रह गया है और औसत रूप से प्रत्येक हिन्दू घर में इतना अधिक आधुनिक प्रभाव पड़ गया है कि वे अत्यन्त हीन श्रेणी के अनुकरण मात्र रह गए हैं और इन खेल की वस्तुओं का बंगला नाम दिय गया है। बंगलानुमा घर बनाने की प्रथा अब चल पड़ी है। इसके बीच में आँगन नहीं रक्खा जाता। इसके दरवाजों में कोई कारीगरी का काम नहीं किया होता। बढ़ई के नक्काशी करने वाले औजार इनके दरवाजों और चौखटों को छू भी नहीं पाते। गाँव के घरों में जो सौन्दर्य होता है उसमें बनी हुई कारीगरी से जो आह्लाद प्राप्त होता है वह आज कल के नगरों में सर्वत्र प्रचलित विचित्रप्रकार के बने हुए भद्दे और उपयोगिता का ही ध्यान रख कर बने हुए भवनों में कहाँ दिखाई पड़सकता है! उनमें अतिथियों के ठहरने का कोई स्थान नहीं होता, स्त्रियों के लिये कोई पर्देदार जगह नहीं होती। तथा उनमें अतिथि-सत्कार की कोई व्यवस्था

नहीं होती। यह सब केवल व्यावसायिक संगठन होता है। आजकल की दरिद्रता ने यह सब करने के लिये अवश्य विवश किया है किन्तु आधुनिक राष्ट्रीय अधःपात, आधुनिक उपयोगिता की भावना तथा हिन्दुओं के अतिथि-सत्कार और सौन्दर्य्य के आदर्शों की आधुनिक अधोगति भी इन परिवर्तनों के कारण हैं। क्या आप जानते हैं कि हिन्दुओं के घर को जब बढई तैयार करता है तो सिंहद्वार की रचना में घर के मालिक का कोई अधिकार नहीं होता। यह विषय उस शिल्पी, गाँव के छोटे कारीगर के ही अधिकार की बात होता है। पहले वह कोई कामचलाऊ छोटा दर्वाजा लगादेता है, फिर कुछ समय के बाद एक भव्य नक्काशी किया हुआ सुन्दर फाटक लगाता है जो उसकी सरल कल्पना और देहाती हथियारों की कारीगरी तथा लकड़ी में बनी हुई सुन्दर कविता होती है। वह इस सिंहद्वार को लगाकर बिना मांगे हीं अपना पुरस्कार पा जाता है जो सौ दो सौ वा अधिक मुद्राओं का हो सकता है। भारतवर्ष में कारीगर हीं समाज का नियंत्रण करता है। वह हमारी भौतिकता वा तुच्छ अहमन्यता के भावों का दास नहीं होता। उसका आदर्श पवित्र और शुद्ध होता है। उसकी परंपरा अनवच्छिन्न और अपरिवर्त्तित होती है । उसमें भी पवित्रता, सौन्दर्य्य और पूर्णता की भावना होती है वह अपनी प्राचीन मर्यादा से तनिक भी विचलित नहीं होता। आप अपना विचार उसपर प्रकट कर सकते हैं किन्तु उसके उत्तर में वह भी निवेदन करदेगा कि

महाशय यह आपकी भूल है। आपका यह परामर्श शास्त्रीय नहीं है।" इस प्रकार हम लोगों के सौन्दर्य की भावना ही पवित्रता, नैतिकता और सौन्दर्य्य की भावना बनती है। इन सब के मिलने से सत्य की भावना बनती है।

५—पुत्र

घर के मालिक वा संयुक्त परिवार के प्रबन्धक वा स्वामी से घट कर पुत्र का स्थान होता है जो परिवार का दीपक माना जाता है। नये बच्चे के पैदा होने पर उसे परिवार में देवता सरीखा उतरा हुआ माना जाता है। बाल्यावस्था में उसे सब लोग ही प्यार करते हैं। हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जिस परिवार में पुरुष संतान नहीं होती वह इस संसार में अपना कोई नाम लेने वाला न छोड़कर परलोक जाने पर भी रौरव नरक में पड़ता है, पुरुष संतान होने से परिवार इस पाप से बच जाता है। पुत्रियाँ संपत्ति का उत्तराधिकार पा सकती हैं किन्तु वे परिवार का वंश नहीं चला सकतीं। अतएव यह प्रथा चलाई गई है कि आजकल के सम्पन्न पितामह अपने परिवार में कोई वंश न होने पर अपने नाती को गोद ले लेते हैं। इस प्रकार इस साधन द्वारा वंश चलाने और अपने ही सम्बन्धियों में अपनी संपत्ति को सुरक्षित रखने की सुविधा होती हैं। एक नाती को गोद लेने से दूसरे अनेक व्यक्तियों का हक मारा जाता है और इससे एक ओर तो मुकदमेबाजी का बीज पड़ जाता है और दूसरी ओर परि-वार में कलह पड़ जाता है किन्तु कचहरियों द्वारा अब यह स्वीकृत कर लिया गया है कि नाती का गोद लिया जाना निय-मानुकूल है। किसी प्रकार परिवार में वंश होना वा गोद लेकर

परिवार में उपस्थित होना एक धार्मिक आवश्यकता है और हमें परलोक सिधारने के पहले इसे कर लेना आवश्यक है। हिन्दू परिवार में पुत्र के प्रति कितना अधिक प्रेम प्रगट किया जाता है। यह बात बतलाने की आवश्यकता नहीं। उसकी परछाईं तक का ध्यान रक्खा जाता है तथा उसके पग चूमे जाते हैं। उसकी रात दिन देख भाल की जाती है तथा उसके उत्पन्न होते ही विवाह की चिन्ता प्रारम्भ कर दी जाती है। यह पुत्र जब से गोद में पलना प्रारम्भ होता है, माता की गोद में रहकर तोतली बोली बोलना प्रारम्भ करता है, फिर शिक्षा प्रारम्भ करता है, उससे कुछ बड़ा होने पर नगर के किसी स्कूल या कालेज में पढ़ने के लिए भरती किया जाता है उस समय तक न मालूम कितनी ही लड़कियों से उसके विवाह की चर्चा हो चुकी रहती हैं। अन्त में किसी भाग्यवान कन्या के गले में उससे मंगल सूत्र डलवाकर विवाह संस्कार संपन्न करा दिया जाता है। उस विवाह के लिये पुत्र की स्वीकृति नहीं ली जाती। विवाह के लिए बहुत थोड़े बालकों से ही स्वीकृति ली जाती होगी। इस विवाह के लिये ही माता पुत्र के जन्म से १५-१६ वर्ष तक चिन्ता करती आती रहती है। घर में एक नन्हीं बहू आने की प्रतीक्षा वह निरंतर ही करती रहती है। एक समय १० या ११ साल की यह नन्हीं बहू नई दुलहिन होकर आ पहुँचती है। भोली भाली माता और बालक के जीवन में एक नया युग प्रारम्भ होता है। नये पर निकले हुए बच्चे पक्षियों को आसमान

में उड़ना कोई नहीं सिखलाता। जानवरों के नये पैदा हुए बच्चों को जंगल में घूमने फिरने की कोई शिक्षा नहीं देता। उनके अन्दर ही एक प्रेरणा होती है। उसी प्रेरणा से दुलहिन भी अपने स्नेह और अपने चित्त को इस नए वातावरण, नये परिवार और नये घर में संलग्न कर देती है। पुत्र के मुख पर सास ससुर और साले का नाम प्रायः आने लगता है और ये सब माता को अपनी पीठ पर लाल लोहे के दागने के समान मालूम पड़ते हैं। माता सोचती है कि जिस पुत्र को हमने ही जन्माया, हमने ही पाल पास कर बड़ा किया, जिसकी बीमारी में रात दिन जगे रहकर अपने स्वास्थ्य को नष्ट किया और उसकी सेवा की, वही पुत्र अब मेरे पास नहीं फटकता, किन्तु माता की ईर्ष्या तुरन्त ही नहीं उभड़ पड़ती। जब पुत्र-वधू परिवार में आकर अपने पास रहने लगती है तब माता की वह ईर्ष्या पूर्ण वेग से फूट पड़ती है। इस समय पुत्र-वधू के प्रति तुरंत दुर्भावना नहीं उत्पन्न होती। वह परिवार में एक नई पुत्री के समान होती है और कदाचित उसके समान आयु की ही पुत्रियाँ उसका साथ देने के लिये परिवार में होती हैं। परिवार की युवा और वृद्धा सभी स्त्रियाँ उसको अपनी बहन या पुत्री के समान मानकर उससे अत्यधिक प्रेम प्रगट करती हैं, बड़ी पुत्र-वधुएँ इस छोटी पुत्रवधू का स्वागत करती है, वे इसका बाल सँवारती, स्नान कराती और कपड़े पहनवाती हैं तथा बाजार से मिठाई मंगवाकर उसका इस प्रकार सत्कार करती है मानों वह

उनकी सगी बहन हो। सास भी उसके प्रति इसी प्रकार अपना प्रचुर प्रेम प्रगट करती है। उसे इस बात का क्या पता होता है कि यही नवागता पुत्र-बधू कलह की जड़ और ईर्ष्या की वस्तु बन जायगी। कदाचित कुछ समय बीतने पर माता विधवा हो जाती है और जो एक दिन घर की रानी थी वह परिवार की एक दासी सी हो जाती है। पुत्र अब किसी भी बात में उससे सलाह नहीं लेता और जब उसकी बहन ससुराल से लौटकर आती है तो उसे प्रथा के अनुसार मिलने वाली वस्तुएं साड़ी चोली आदि भेंट दे देता है किन्तु उस भेंट के खरीदने के लिये उसके प्रकार वा मूल्य के संबन्ध में माता से सलाह नहीं लेता। इस संबन्ध में वह अपनी स्त्री से सलाह लेता है। वही पति के रुपये पैसे को सँभालती है और माता का उन बातों में कोई हाथ नहीं होता। पुत्र-बधू ही घर-बार चलाती है, बाजार से शाक-भाजी आदि मंगवाती है। क्या भोजन बनना चाहिये इसका भी वही निश्चय करती है। नौकरों पर उसी की आज्ञा चलती है तथा बालक-बालिकाओं को कपड़े-लत्ते पहनाने का भार उसी पर होता है। वह अपने बच्चों को दादी के पास जाने वा सोने तथा उसके द्वारा नहलाए धुलाए जाने का भी निषेध कर देती है और कभी संयोगवश वा दादी के अदम्य प्रेम के कारण ये बातें हो जती हैं तो पुत्र-बधू बहुत भयंकर रूप धारण करती है और अपने बच्चों को निर्दयता पूर्वक पीटती है। सास इन क्रूरताओं को सहन करने में असमर्थ होती है और वह अपने

पुत्र से इस की शिकायत करने की कोशिश करती है जिससे पुत्र अपने को बड़े धर्म-संकट में देखता है। प्रारम्भ में कुछ दिनों तो पुत्र अपनी युवा स्त्री की भर्त्सना करता है और कभी उसको मारपीट भी देता है किन्तु युवा स्त्री चतुर होती है। वह खाना पीना छोड़ देती है बाल संवारना बंद कर देती है, आभूषण उतारकर रखदेती है तथा उदास रूप बनाकर पड़ रहती है। वह बरामदे या रसोईघर में सो जाती है और जब कभी संभव होता है वह अपने बच्चों को झिड़कती और पीट देती है। इस पर बेचारा पति समझौता करने के लिये विवश होता है और धीरे-धीरे उसपर स्त्री का अधिकार होने लगता है। पति पर स्त्री का इतना प्रभुत्व जम जाता है कि वह माता को ही चिड़-चिड़ी, झगड़ालू और कलह-प्रिय कहकर झिड़कना प्रारम्भ कर देता है। वह यह समझाने का प्रयत्न करता है कि प्रत्येक सास को यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी समय वह भी पुत्र-बधू थी। मामला बिगड़ने लगता है। पुत्र को अपनी माता द्वारा बनाए भोजन में कुछ स्वाद नहीं मिलता, किन्तु स्त्री के हाथ का बनाया हुआ भोजन बड़ा मधुर लगता है।

इन बातों से माता को बहुत क्षोभ होता है और शीघ्र ही माता तथा पुत्र में बातचीत बन्द हो जाती है। पिता अपनी प्यारी स्त्री के लिये कोई भी व्यवस्था न करके मर गये थे। माता के पास जो रुपये थे उन्हें उसने अपने विधवा जीवन

के प्रारम्भकाल में तथा अपने पुत्र को शिक्षा दिलाने में समाप्त कर दिये थे जिसके कारण वह वृद्धावस्था में इस स्थिति को पहुँच चुकी है, वह असहाय हो गई है। उसके पास एक भी रुपया नहीं जिससे वह पुत्री को बुला सके, एक भी पैसा नहीं जिससे अफीम भी खरीद सके। पुत्र-बधू कभी उसकी चिन्त नहीं करती, पुत्र ने उससे बात-चीत करना छोड़ दिया है। वह इतनी अधिक वृद्ध हो चुकी है कि वह अपने सुख-दुख किसी से कहने योग्य नहीं है। इधर उसको दमा, लकवा वा कोई अन्य भयंकर बीमारी हो जाती है। इस दशा में कोई उसकी बात पूछने वाला नहीं होता। उसका दवादारू करने, डाक्टर वैद्य को बुलाकर उसकी फीस देने तथा उसको पथ्य दिलाने वाला व्यक्ति कोई नहीं होता। उसकी शोकजनक मृत्यु होती है। तब उसे अपने सब गहने परिवार के काम में आने के लिये बेंच देने की मूर्खता स्मरण हो आती है। उसे अपने प्रिय पति की भी अत्यधिक मूर्खता पर शोक होता है जिसने उसकी वृद्धावस्था, उसकी विपत्ति और उसके दुर्भाग्य के समय कोई सहायता पाने की व्यवस्था नहीं की जिससे पुत्र के विमुख होने पर भी कष्ट न हो। यहां पर हमें पिताओं, माताओं, पुत्रों तथा पुत्र-बधुओं के लिये शिक्षा मिलती है कि स्त्री का हिस्सा अलग सुरक्षित होना चाहिये तथा पुत्रियों, बहिनों और स्त्रियों को पारिवारिक संपत्ति में से कुछ निश्चित संपत्ति अवश्य ही पृथक कर देनी चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत से पुत्र माता-

पिता से श्रद्धा और भक्ति रखते हैं किन्तु एक नई सभ्यता के आगमन पर नई स्थितियाँ और नये आदर्श सामने आ गये हैं और नई परिस्थितियों के लिये निस्सन्देह ही नये उपायों की आवश्यकता होती है।

६—पुत्री

एक वयस्क महानुभाव ने लेखक को सचेत करते हुए उससे यह प्रश्न पूछा "अपनी इन पुत्रियों का आप इतने अधिक प्रगाढ़ प्रेम से क्यों पालन-पोषण करते हैं ? यह पुत्रियाँ हम लोगों के घर से बिदा हो जाती हैं और शिकायत करती हैं कि हम लोगों ने उन्हें कुछ नहीं दिया।" "क्या आपकी इतनी ही कुल शिकायत है किन्तु शिकायत करने के पहिले क्या आपको पूर्ण निश्चय है कि आपके विरुद्ध लड़कियों को कोई शिकायत नहीं होती ? क्या यह सच नहीं है कि आप अपनी जायदाद और धन का सबसे अधिक भाग अपने स्वेच्छाचारी पुत्रों के लिए सुरक्षित रख लेते हैं और अपनी पुत्रियों के लिये कुछ नहीं छोड़ते ?" "हाँ यह बात सच है किन्तु वे एक नये परिवार की रानी बन जाती हैं और इस नये परिवार के सुख-दुःख में भाग लेती हैं।" "यह ठीक है किन्तु क्या यह आपके लिए उचित नहीं है कि आप उनको अपनी थोड़ी सी जायदाद और जेब खर्च के लिये कुछ थोड़ा सा धन रखने में समर्थ बना सकें ?" यह बात कोई नहीं कह सकता कि आप अपनी पुत्री को वार्षिक रूप में १००) या ५०) रुपये जो देते हैं वह व्यर्थ जाता है। वह इन रुपयों से कुछ नई साड़ियाँ ले सकती हैं, और नये नमूने के कुछ गहने बनवाने के लिये सुनार को उनकी बनवाई दे

सकती है तथा बेल-बूटे काढ़ने और सलाइयों से बुनने के लिये थोड़ा रेशम या थोड़ा तागा खरीद सकती हैं। जो विशेष संस्कृत हों वे चित्रकला और संगीत में अभिरुचि रखकर रंगों और बाजों में लगा सकती हैं किन्तु हिन्दुओं की पुत्रियाँ जो अपना बालापन पारकर स्त्रियाँ बनती हैं पुत्री के संरक्षक काल को समाप्त कर पुत्र-बधू बनतीं हैं, अत्यन्त अल्पव्ययी, सद्गुणी और व्यवहारकुशल गृहिणी होती हैं, जो कुछ अंश तक अकालपक्क होती हैं तथा जिनकी उत्तर दायित्व की भावना, व्यावहारिक बुद्धि की मात्रा तथा किसी नए वातावरण के अनुकूल बना लेने की क्षमता अद्वितीय तथा आशाओं से परे होती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पिता पुत्रियों से अधिक प्रेम करते हैं और माताएँ पुत्रों के प्रति अधिक प्रेम उत्पन्न करती हैं। इस परम्परा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तो अस्पष्ट है किन्तु उसके जानने का कुछ प्रयत्न किया जा सकता है। वास्तविक बात यह है कि माता-पिताओं में से जो दृढ़ होता है वह पुत्र और पुत्री सभी बच्चों को प्यार करता है किन्तु जहाँ पुत्र और पुत्रियों के बीच भेद करना होता है वहाँ यह बात देखी जाती है कि माता पुत्री को एक नए परिवार की नींव, एक नए परिवार के वृत्त का मूल केन्द्र समझती है। पुत्री शक्ति होती है। उसे नये विकिरण स्थल से इस संसार को आगे चलाने का कार्य करना चाहिये और उसे इस परिवार से इसी प्रकार बिदा होना पड़ेगा जिस प्रकार उसकी माता किसी समय बिदा हुई थी।

माता को अपनी जन्मभूमि की ममता नहीं रह जाती, उसी प्रकार नवजात पुत्री को इस बात का अनुभव करने की शिक्षा दी जानी चाहिये कि उसका स्थान अन्यत्र है। पिता दूसरी बात सोचता है। वह अपनी प्रिय पुत्री को विदा करने की अनिच्छा रखता है। वह पुत्री उसकी आज्ञानुवर्तिनी होती है, सेवा करने में भाइयों की अपेक्षा अधिक अनुरक्त रहती है, पिता के सुख और सुविधाओं का सदा ध्यान रखती है और जब तक उसकी छत्रछाया में रहती है उससे कभी एक पैसा भी नहीं मांगती। इस प्रकार पुत्री पिता को अधिक प्यारी, अन्य संतानों की अपेक्षा अधिक लाड़ली लगती है। लोगों को यह विश्लेषण बेढंगा मालूम पड़ सकता है। वे अपने दिल में इसके टुकड़े टुकड़े कर फेंक देने, इसकी हँसी उड़ाने और इसकी आलोचना करने की बात सोच सकते हैं।

हिन्दू परिवारों में पुत्रियों का पालन-पोषण भी उतनी साव-धानी से किया जाता है जितना पुत्रों का। किन्तु यह एक निश्चित आयु तक ही होता है। दहेज की प्रथा जोरों से होने के कारण पुत्र इस बात का प्रयत्न करते हैं कि अविवाहित रहकर विश्वविद्यालय की उपाधियों को प्राप्त कर वा उन परीक्षाओं के निकट पहुँच कर अपना मूल्य अधिक करलें। इस कारण पुत्रियों के भी विवाह की आयु अधिक कर दी गई है ब्राह्मणों की पुत्रियों की अवस्था भी विवाह के लिये अधिक हो गई है। इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि यह नूतन परिवर्तन किसी

सुधार की महान भावना से नहीं हुआ है। बल्कि एक आर्थिक पहलू के धक्के से यह ऊँचा उठ गया है। परिवार में अधिक पुत्रियों का होना एक अभिशाप मानाजाने लगा है, किन्तु मनुष्य जब तक एक लापरवाही और उपेक्षा की भावना उत्पन्न न कर ले तब तक उसे एक पुत्री भी चिन्ता, परेशानी और झंझट का कारण होती है। वास्तविक बात यह है कि पुत्री हमें नए वातावरण के संसर्ग में लाती है। अपरिचित लोग हमारे चिर परिचित वा संबन्धी हो जाते हैं और हमें अपने को इस प्रकार बनाना पड़ता है कि उनके आत्म-गौरव और मर्य्यादा की भावना को हमारे व्यवहार से आघात न पहुँचे। प्रत्येक क्षण हमारा व्यवहार संदेह का कारण होता है। किसी दिन हमने अपने दामाद की ठीक तरह से आवभगत न की वा किसी दिन किसी ममेरे भाई की अभ्यर्थना नहीं की, कदाचित दामाद के यहाँ दशहरा को भेजी गई पठौनी उनके सन्तुष्ट करने के योग्य नहीं थी, धन, व्यवहार, भेंट, परम्परा तथा रीति रस्मों का पालन, आज्ञाओं की पूर्ति तथा माँगों और इच्छाओं का पालन; यह सब बातें हैं जो नए संबन्ध हुए परिवारों के साथ विरोध पैदा कर देती हैं, तथापि ये सब समय के साथ समाप्त हो जाती है। ये अनिवार्य झगड़े प्रायः हमारे संबन्ध और स्नेह के सूत्र को और अधिक प्रगाढ़ बना देते हैं और कभी कभी ही ऐसा होता है कि जीवन भर रहने वाली भ्रान्त धारणा उदासीनता और दुर्भावना उत्पन्न हो जाती है।

७—दामाद

विवाह के पश्चात पुत्री और दामाद वा पुत्र और पुत्र-बधू आनन्दोत्सव मनाने के लिये निकलते हैं और उनके उभय-पक्ष के माता-पिता उनकी यात्रा वा कार्यक्रम के पक्ष में कुछ नहीं जानते। यह वर और कन्या की इच्छा की बातें होती हैं और माता-पिता से उनका कोई संबन्ध नहीं होता, किन्तु यह स्थिति पाश्चात्य देशों में होती है। भारतवर्ष में ऐसा नहीं होता। हमारे देश में विवाह होते ही दामाद ससुर के परिवार में कलम लगने के उसका अंग सरीखा हो जाता है। तथा श्वसुर दामाद को प्रश्रय देने वाला एक नवीन पिता बन जाता है। वह सालभर तक सभी बड़े पर्व्वों, त्यौहारों तथा उत्सवों पर अपने घर आमंत्रित करता है तथा उसे वस्त्राभूषण प्रदान करता है, पुत्र-बधू को भी बर के माता-पिता की ओर से पर्व्व त्यौहार पर अनेक वस्तुऐं भेंट दी गई होती हैं। उसी के उत्तर में कन्या का पिता भी दामाद को अनेक वस्तुएं भेंट में देता है, दूसरे वर्ष दामाद ससुर के घर का अंग बनगया होता है: उसकी अपने साले से गाढ़ी मित्रता होचुकी रहती है तथा साला उसका अनेक प्रकार से परिहास करता है। दामाद की अपनी छोटी साली से भी मित्रता होचुकी रहती है। वह उसी को दूत बनाकर अपनी नई पत्नी से बातचीत करता है।

आजकल नव प्रचलित शिक्षा और वय-प्राप्त दूल्हें को दहेज रूप में गहरी रकम देने की प्रथा के कारण निर्धन श्वसुर अपनी एक पुत्री के विवाह में दामाद की भारी मांगों के कारण ही ऋणी नहीं होजाता बल्कि उसे विवाह के पश्चात भी गौने आदि के समय दामाद को रुपये पैसे देने का वादा करने के कारण भारी ऋण का बोझ सिर पर लादना पड़ता है। विवाह के लिये दामाद जितनी भी लम्बी चौड़ी मांगें सामने रखता है उन सब को ससुर देने के लिये अदूरदर्शिता-पूर्वक वादा कर-लेता है और जब उस प्रतिज्ञा किये हुए धन देने का समय आता है तो वह बेचारा दामाद को देने के लिये साइकिल, मोटर, घोड़ा, वा जगह जमीन आदि खरीद कर देसकने में अपने को असमर्थ पाता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा पूर्ण कर सकने का अवसर नहीं होता। किन्तु दामाद अपना अवसर देखता रहता है और प्रतिज्ञा की हुई वस्तुओं को लिये बिना कन्या की विदाई करा लेने के लिये तैयार नहीं होता। कितने घोर परिताप की बात है। इस प्रकार कितने परिवार नष्ट होगये है, पारिवारिक सुख नष्ट होगया है तथा युवा निर्दोष कन्याओं को निर्दयता पूर्वक परित्यक्त होना पड़ता है तथा ऐसी समस्याएं उत्पन्न होजाती हैं जिनका सुलझाव नहीं होसकता, कन्याएँ मारी पीटी जाती है तथा कोठरियों में अकेले बन्द कर ऐसी बन्दी बना ली जाती हैं कि उनके माता-पिता उनसे बात करना तो दूर रहा, उनका मुँह भी नहीं देख सकते, धोखा और संताप

के कारण कन्याएँ आत्मघात भी कर लेती हैं। जिस स्थिति का इतना भयंकर चित्रण किया गया है वह कहीं कहीं पर ही दिखलाई पड़ती है किन्तु इसकी सत्यता में कोई सन्देह नहीं।

समय बीतते जाने पर जीवन की कड़ुवाहट शांत होती है और चरित्र का नोकीलापन दोनों ओर मिटकर गोलाई का रूप धारण करने लगता है अथवा दामाद एक आदर्श व्यक्ति होता है जो श्वसुर के परिवार से हिलमिल जाता है। वह सास का स्नेहपात्र बन जाता है। उससे माता-पिता को कुछ ईर्ष्या सी होने लगती है जिनके साथ वह अपने अवकाश के समय को न बिता कर एक नये वातावरण में ही समय बिताने लगता है। उसकी नवागता स्त्री आकर्षण का अधिक पात्र होती है। उसकी छोटी और बड़ी सालियाँ प्रेम पूर्वक आदर-सत्कार करती हैं तथा साले मनोरंजक उपहास करते हैं। उसकी माता पर्दे की ओट में करदी गई होती है। उसकी कोई बात नहीं पूछी जाती। कुछ ही समय में उसकी साली के विवाहोत्सव की तैयारी होने वाली होती है। उस समय यह पहले दामाद के रूप में ससुर के परिवार का सगा पुत्र सा बन जाता है। वह उस परिवार के काम-धाम हाथ में ले लेता है विवाहोत्सव के लिये तैयारियों की देख रेख करता है, अतिथियों को आमंत्रित करता है, उत्सव में आगत सज्जनों का स्वागत करता है तथा उनको चन्दन लगाता और आदर-सत्कार करता है। वास्तव में वह श्वसुर का दाहिना हाथ बन जाता है और

सालों के वयस्क न होने परतो ससुर की हर प्रकार से सहायता करता है। यदि दैवात श्वसुर की मृत्यु होगई दो दामाद इस संपूर्ण परिवार का पालन-पोषण करता है, उनके व्यय का बोझ अपने सरपर लेता है, सालों को शिक्षा दिलाने और सालियों की शादी आदि का प्रबन्ध भी वही करता है। एक शब्द में वह श्वसुर के परिवार में ही लीन होजाता है तथा कुछ समय में ही दामाद के स्थान पर वह इस परिवार का पुत्र बन जाता है। वह ऐसा व्यक्ति होजाता है जिसको अपने कर्त्तव्य तो पालन करने पड़ें लेकिन कोई अधिकार न हो।

८—पुत्रबधू

पुत्रबधू के बिना हिन्दू परिवार इस प्रकार सूना पड़ जाता है मानों वह संतानहीन हो। यदि वंश को चलाना हो तो पुत्र-बधू ही उसका साधन है। अतएव उसके परिवार में आने पर अपार हर्ष मनाया जाता है। संभव है वह बालिका ही हो, किन्तु उसकी उतनी ही अधिक सेवा की जाती है जितनी किसी युवा स्त्री की पति के घर आने पर सेवा होती है। बल्कि यह हो सकता है कि वह स्त्री द्विरागमन के बाद चुपचाप घर में आवे और परिवार का अंग बन जाय, किन्तु नई पुत्रबधू, जो हिन्दुओं के प्रथानुसार अल्पवायु में ही ब्याही जाती है, बड़ी धूमधाम के साथ आती है और अपने साथ सास ससुर के लिये ही भेंट नहीं लाती बल्कि ननद के लिये भी खिलौने, मिठाई नारियल आदि वस्तुएं भेंट रूप में लाती हैं। गाँव के सब लोग पति के नए घर में दुलहिन का आना एक बड़ी बात ही नहीं मानते, बल्कि उसको इतिहास की एक भारी घटना मानकर उसका उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाते हैं, भेंट की यह सब वस्तुएं गाँव भर में बँटवाते हैं। उसके साथ उसकी छोटी बहन, भतीजी या कोई सेविका आसकती है। इस दस या बारह वर्ष की छोटी दुलहिन की सास ससुर द्वारा बड़ी सेवा होती है। उत्सव मनाये जाते हैं। दुलहिन को रुचिकर भोजन कराया जाता

है तथा एक खिलौने की तरह भाँति-भाँति के वस्त्र पहनाकर उसकी सजावट की जाती है। उसका गाँव के अनेक परिवारों से परिचय कराते हैं। उसका गाँव में आना सब लोगों के लिये हर्ष की बात होती है। सारा गाँव खुशी के मारे फूला नहीं समाता। दुलहिन को देखने के लिये सारा गाँव उमड़ पड़ता है। नौकर-चाकर घर में दौड़-धूप करने लगते हैं। सब जगह आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। नई दुलहिन को पति के परिवार का अंग बनने में ३-४ वर्ष लग जाते हैं। तब द्विरागमन के बाद वह घर आती है। विवाह संस्कार के समय मन्त्रोच्चार, हवन तथा गणेश की पूजा संस्कार के पूर्व कर लिया जाता है। इनके बाद वर और कन्या के बीच परस्पर प्रतिज्ञा करने के लिये विवाह मंत्र पढ़ाये जाते हैं। यह सब बातें संस्कार को ऐन्द्रिक तल से ऊँचे उठा देती हैं। यह उत्सव सामाजिक वा केवल एक दिखावटी बात नहीं होता, बल्कि एक पवित्र उत्सव होता है जिससे युवा कन्या और वर के विचार एक दूसरे से दूर होकर दैवी विचारों के उच्च स्थान पर पहुँच जाते हैं। विवाहोत्सव तीन दिन में समाप्त हो जाता है। इसके बाद वर और कन्या विवाहित स्त्री पुरुष की भांति रहने लगते हैं। स्त्री को पुरुष से बातचीत तथा खुल्लमखुल्ला सामने होने का निषेध होता है और दुलहिन अपने जेठ वा पति के पिता, चाचा आदि के आने पर खड़ी हो जाती है। जो लोग इन रस्मों के पालन करने के कुछ विरुद्ध है उन्हें कन्या के

खड़े होने और बैठने की परिपाटी को देखकर दुख होता है। किन्तु अब समय बदल रहा है। अब दुलहिन पहिले के समान संकोची और लज्जाशील प्राणी नहीं होती। अब उसका एक अलग कमरा होता है जिसे वह निजी कमरा कह सकती है। उसमें उसके और उसके दूल्हे के लिये चारपाई होती है तथा उसे अल्मारी तथा दूसरी वस्तुएँ भी मिल जाती हैं। उसको कुछ समय तक के लिए वस्त्र तथा खाने के लिये पीतल वा फूल की थाली और पानी पीने के लिये कोई पात्र दे दिया जाता है। कुछ वर्षों तक उसकी सभी आवश्यकताओं के लिये उसके माता-पिता पूछताछ किया करते हैं। कुछ समय तक पुत्र-बधू की बड़ी ननद और सास प्रसन्न रहती हैं किन्तु थोड़े समय बाद ही सब लोगों की यह प्रसन्नता परिवर्तित होकर इस नई दुलहिन की मौन आलोचना, कड़े आक्षेप तथा खुल्लमखुल्ला विरुद्ध वार्ता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। वह अधिक धृष्ठ है, वह आलसी है, वह अधिक सोने वाली है अथवा चुप्पा है; इसी प्रकार उसकी कुछ भी अलोचना की जाती है। दुलहिन पहली बार अधिक समय तक अपने पति के घर नहीं रहती। दो-एक मास के बाद वह अपने मैके चली जाती है तथा वहाँ से फिर दो.एक मास पश्चात ससुराल चली आती है। इस प्रकार वह साल में कई बार मैके और ससुराल आती जाती रहती है। पहले वर्ष वह सभी पर्व त्योहारों पर मायके जाती है तथा माता-पिता से भेंटों को लेकर ससुराल चली आती है। इस

प्रकार १-२-३ वर्ष बीत जाते हैं और उसके सन्तानोत्पत्ति के लक्षण नहीं जान पड़ते। इस पर उसके माता-पिता को चिन्ता होने लगती है। इस कारण वह देवी देवताओं के मन्दिर में दर्शनार्थ भेजी जाती है। तब उसके गर्भ-धारण करने की कल्पना की जाती है। उसको स्त्री डाक्टर के पास लाया जाता है और उसके द्वारा मालूम पड़ता है कि उसके शरीर में अमुक-अमुक विकार उपस्थित हैं जिनसे गर्भ धारण नहीं हो सका। तब उसकी चिकित्सा कराई जाती है। दुलहिन के पहली संतान होने पर बड़ा उत्सव मनाया जाता है जिसमें गाँव भर की स्त्रियाँ आकर गाती बजाती हैं। इसके बाद नामकरण संस्कार होता है। ग्रह बुरे होने पर उनके शमन के लिये पूजा पाठ कराया जाता है। अब पुत्र-बधू एक माता और पूर्ण स्त्री हो चुकी रहती है। दो या तीन संतानोत्पत्ति होना एक साधारण जीवन-क्रम मान लिया जाता है। समय बीतते जाने पर ऐसा अवसर आता है कि जिस संयुक्त परिवार का एक सदस्य पुत्र-बधू होती है उसमें ननदों और देवरानियों जेठानियों तथा पुत्र-बधू का विरोध उठ खड़ा होता है। इसी प्रकार सास से भी उसका झगड़ा होने का अवसर आता है जिसे अपनी अत्यधिक आधुनिक वेशभूषा और अभिरुचि वाली पुत्र-बधू में अनेक दुर्गुण दिखाई पड़ने लगते हैं। वह साड़ी पहनने तथा परंपरागत आभूषणों के स्थान पर आधुनिक ढङ्ग के बने हुए चमक-दमक के विचित्र नये गहनों की आलोचना करती है। इन सब के

अतिरिक्त सास और पतोहू के बीच एक अधिकार के लिये संघर्ष खड़ा होता है। पुत्रबधू सास से कहती है कि तुम्हारा लड़का मेरा पति है तथा सास पुत्रबधू से कहती है कि तेरा पति मेरा पुत्र है। माता कहती है कि "कितने कष्ट और दुःख उठाकर मैंने पुत्र को उत्पन्न किया, पाला पोसा तथा बड़ा किया। इस नवागता अभ्यागत स्त्री ने उसके पुत्र को बिलकुल अपना ही बना लिया। मेरा पुत्र मेरे पास तक नहीं फटकता। मुझसे कभी यह भी नहीं पूछता कि मैं मृत हूँ वा जीवित। वह मेरी लड़कियों को भेंट दी जाने वाली वस्तुओं में सलाह नहीं लेता। उसके विषय में इस नवागता स्त्री से ही सलाह लेता है। मैं बिलकुल फालतू समझी जाती हूँ।" दूसरी ओर स्त्री कहती है कि पति उसका सर्वस्व है। उसको उसके शरीर की चिन्ता करने और उसकी आय स्वयं लेने का पूर्ण अधिकार है। वह उसका सहचर, स्वामी, प्रेमपात्र और सर्वस्व है। इस पुत्रबधू और पुत्र के बीच जितना ही प्रगाढ़ स्नेह का सम्बन्ध होता जाता है उतना ही माता उत्तेजित होती जाती है। जब कभी पुत्रबधू को अत्यधिक कार्य करना पड़ता है तो झगड़ा उठ खड़ा हो जाता है। वह विरोध करती है और पति से शिकायत करती है। स्त्री एक दूसरे घर से लाई हुई अतिथि होती है और माता उससे कड़ा काम लेती रहती है, अतएव बेचारा पति असहाय हो जाता है और न वह माता को ही अप्रसन्न करना चाहता है न स्त्री को। ऐसे अनेक बिपत्ति के उदाहरण पाये गये हैं जिसमें दुर्बल पति के

कारण स्त्री को आत्मघात करने का अवसर आया है। इसी प्रकार ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जिसमें एक दृढ़ पति ने संयुक्त परिवार से सर्वथा अलग होकर अपना नया परिवार बना लिया है। नई दुलहिन और उसकी ननदों के बीच के संबन्ध भी कम दुखद नहीं होते। ननद समझती है कि वह इसी परिवार में उत्पन्न हुई है। इस लिये उसे शासन करने का अधिकार है। इधर दुलहिन समझती है कि वह घर की रानी है इस लिये वह सबकी मालकिन है। इस प्रकार इन बालिकाओं में संघर्ष खड़ा होता है जिनमें एक तो इस घर से बिदा होकर अन्यत्र जानेवाली होती है और दूसरी इस नए परिवार में नई आई होती है। अंत में दुलहिन का अपनी जेठानियों से संघर्ष होता है। जेठानियाँ समझती हैं कि वे इस परिवार में कुछ काल व्यतीत कर चुकी हैं, अतएव उन्हें परिवार में नवागता स्त्री पर अपना शासन चलाने का अधिकार है। नौकरियों में भी पुराने कर्मचारी नये नियुक्त हुए व्यक्तियों पर अपना शासन चलाया करते हैं। वही उदाहरण जेठानियों के सामने भी रहता है, किन्तु दुलहिन का नया रक्त इन सब बातों का विरोध करता है। इस कारण विरोध उठ खड़ा होता है। जब बधुओं को संतानें उत्पन्न हो जाती हैं तो दादा दादियों को उनके लिये दण्ड पुरस्कारादि के लिये एक छोटा मोटा इजलास लगाना पड़ता है। इन सब बातों से ईर्ष्याद्वेष और कलह उत्पन्न होता है और इनके कारण परिवार के उत्तरदायी सदस्यों की अपेक्षा वे

दाइयाँ और नौकरानियाँ अधिक होती हैं जो बच्चों के पालने-पोसने के लिये परिवार में नियुक्त होती है। देखते ही देखते परिवार का बटवारा होने लगता है। जो दुलहिन एक बालिका की भाँति आई थी और किसी समय लज्जाशील स्त्री की भाँति रहती थी वही अब पूर्ण स्त्री बन चुकी रहती है। वही अब सयानी होकर अपने पति के अधिकारों को मौखिक रूप से वा कोलाहल कर प्रगट करने वाली बन जाती है। कुछ दुलहिनें तो पंचों द्वारा परिवार की चल-अचल संपत्ति का मूल्य निर्धारण करवाने और बँटवारा कराने का कार्य अपने सामने कराने का साहस करती हैं। ये दुलहिनें चतुर और साहसी बन गई होती हैं। भारतीय परिवार की प्रत्येक रानी संसार को देखते सुनते एक नवसिखी दुलहिन से परिवर्तित होकर गृहिणी और घर की रानी बन जाती है।

६—पिता

जीवन में बहुत थोड़े लोग ही अपने ऊपर वह उत्तरदायित्व रखते हैं जिसे एक हिन्दू पिता को अपने सिर पर लेना पड़ता है। वह परिवार का स्वामी होता है, एक जायदाद का प्रबन्धक होता है; घर का न्यायाधीश होता है तथा खेत खलिहान और चौपायों का निरीक्षक होता है। उसे अपने किसी भाई को शिक्षा दिलानी होती है और किसी बहिन की शादी करनी होती है तथा दोनों प्रकार के कर्तव्यों को पूर्ण करते हुए अपनी माता को भी प्रसन्न करना होता है। अधिकतर माता की यह अनुचित माँग होती है कि उसकी पुत्री का विवाह किसी बड़े घराने में इतना व्ययकर हो जिसका व्यय सँभाल सकना परिवार के लिये असंभव हो। इसी प्रकार उसकी इच्छा होती है कि उसके पुत्र को विश्वविद्यालय की ऊँची शिक्षा दिलाई जाय चाहे उसके परिवार को भारी आर्थिक कठिनाई में क्यों न पड़ना पड़े। उसको परिवार के स्वामी की हैसियत से उसका प्रबन्ध इस रूप में सँभालना पड़ता है कि न तो वह पूर्ण स्वामी ही रहता है न सेवक ही, फिर भी उसका छोटा भाई बड़े भाई द्वारा लिये हुए ऋणों का लेखा-जोखा माँग बैठता है जब कि वास्तविक बात यह होजाती है कि ऋण का अधिकांश भाग छोटे भाई की ऊँची शिक्षा में लगा होता है। पिता को एक ओर तो

अपने व्यय को आय के अनुसार व्यवस्थित करना पड़ता है और दूसरी ओर अपनी स्नेहमयी माता द्वारा पेश की हुई माँगों को पूर्ण करना पड़ता है। मिताक्षरा न्यायानुसार एक संयुक्त परिवार का मालिक होने पर पिता को परिवार के सब बच्चों का पालन पोषण करना पड़ता है। वे बच्चे उसके छोटे भाइयों के तथा उसके चाचाओं तक के होते हैं। किसी यात्रा से लौटने पर बच्चों को देने के लिए कुछ फल मिठाई आदि भी उसे अवश्य लानी पड़ती है, किन्तु वह उन वस्तुओं को किनमें बाँटे ? यदि वह केवल अपने ही बच्चों में बाँटे तब तो परिवार में कुहराम मचजाय। अतएव भाई के बच्चों को वे वस्तुऐं पहले देता है। इसी प्रकार चलने से संयुक्त परिवार का क्रम चल सकता है, अन्यथा वह तुरन्त ही टुकड़े टुकड़े होजाय। उसकी भौजाई अपने पति को तुरन्त ही सूचना देसकती है कि उसका भाई परिवार की संपत्ति को अपने ही बच्चों में व्यय कर रहा है। यदि वह आँख के सामने ऐसा कर रहा है तो गुपचुप रूप से तो न मालूम क्या करता होगा। कदाचित उसने अपनी स्त्री के लिये गहने बनवा दिये हैं और नई साड़ी भी खरीद लाया है जिसे उसकी स्त्री ने किसी पर्व्व के दिन यह बहाना कर पहना था कि उसे उसकी माँ ने भेजा है। इस प्रकार संयुक्त परिवार में साव-धानी से की हुई बचत पर कोलाहल मचाने का यह एक साधारण मार्ग है, किन्तु वे दिन अब तेजी से जारहे हैं। संयुक्त परि-वार की प्राचीन व्यवस्था अपना स्थान बड़ी तेजी से बटे हुए

परिवारों की नई व्यवस्था को देरही है। गाँव को छोड़ देना, शिक्षा से धन प्राप्त होना, खेतों में संघबद्ध और सहयोग पूर्वक श्रम के स्थान पर किराये की मजदूरी का स्वतंत्र रूप से मिलना तथा जीवन-संघर्ष, धन-लोलुपता, खेती का अलाभकर रूप, तथा खेतों के अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़े बनना तथा नए खेत और नई चरागाहों की खोज में निकल पड़ने की इच्छा, इन सब बातों ने संयुक्त परिवार को बिनष्ट कर दिया है। इस कारण संयुक्त परिवार में वे सब कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं जो परिवर्तन काल में विशेष रूप से जटिल बन गई।

इस कारण पिता के सम्मुख आने वाली समस्यायें भिन्न भिन्न प्रकार की और अत्यधिक हैं। वह कौन सी शिक्षा है जो वह अपने पुत्रों को दिलावे ? वह जानता है कि समय की सम्मानित विश्वविद्यालय की शिक्षा परिवार को ऋण-ग्रस्त बना वेगी लेकिन यदि वह प्रचलित शिक्षा न दिलावे तो दूसरा क्या उपाय करे जिससे नवयुवक अपना जीवन निर्वाह कर सके। किन्तु पिता जानता है कि वह अपने पुत्र की जीविका के लिये ही नहीं बल्कि विवाह के लिये भी शिक्षा दिलाता है। यदि पुत्र को अंग्रेजी शिक्षा न दिलाई जावे तो उसको कौन अपनी पुत्री देने के लिये राजी हो सकता है। इसी प्रकार उसे अपनी पुत्री और उसके वर के लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इन कारणों से हमारा घरबार नष्ट हो चुका है और गाँव के लोगों का सरल सन्तुष्ट जीवन बर्बाद हो चुका है।

११—स्त्री

हमने पहले बतलाया है कि बाल-विवाह होने पर हिन्दू स्त्री खिलौने की भाँति होती है। उसे अपने विषय में कुछ नहीं मालूम होता। वह अपने सास के लिए भी एक खिलौने के समान होती है जिसे परिवार में अपनी पुत्री के स्थान पर एक नई पुत्री पुत्रबधू के रूप में मिली होती है। उसने अपनी पुत्री को किसी दूसरे परिवार में पुत्रबधू बनाकर भेजा होता है। माता को परिवार में इस नवागत पुत्री के आने का गर्व होता है, किन्तु एक दिन वह आता है जिसमें वह उसे झगड़ा करने लगती है। ऐसे परिवार बहुत कम होते हैं जिनमें सास पतोहू में झगड़ा न हो।

यह न समझ लेना चाहिये कि हिन्दुओं में सभी विवाह बाल विवाह होते हैं। पहले बाल विवाह की अधिक प्रथा थी, किन्तु यह उठती जा रही है। कुछ प्रान्तों की जातियों में तो पुत्र-बधू अपनी माता के साथ मैके में ही रहती है और उसका पति वहाँ पर ही जब-तब आता जाता रहता है। दो तीन संतान होने के बाद ही यह अपने घर से जाती है। जहाँ ऐसी प्रथा नहीं है वहाँ दुलहिन को नये वातावरण में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह बात सत्य है कि कुछ दिनों तक

उसके साथ लाड़ प्यार किया जाता है किन्तु सास और ननद का नियंत्रण, अनुशासन तथा अत्याचार बन्द होने के लिये कुछ दिनों तक उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसके प्रत्येक कार्य की आलोचना की जाती है। यह बात प्रचलित है कि परिवार में किसी बात में भी हाँ वा नहीं कहाने का अधिकार सास को ही होता है। एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि हिन्दुओं के भिक्षा-दान की सामान्य प्रथा के अनुसार एक दुलहिन ने भिक्षुक को अपनी इच्छा से ही थोड़ा चावल दे दिया। सास ने इसकी आज्ञा न लेने के कारण पुत्रबधू को झिड़का। दूसरे दिन एक भिक्षुक के आने पर पुत्रबधू नें बिना कुछ दिये ही लौटा दिया। सास इस पर फिर क्रोधित हुई। क्रोध का कारण पूछने पर मालूम हुआ कि किसी बात के हाँ वा नहीं कहने का अधिकार सास को है। पति के घर में नई दुलहिन की ऐसी विकट परिस्थिति होती है। जिन परिवारों में पुत्र-बधुओं को अवर्णनीय कष्ट सहन करने पड़ते हैं उसका अधिक विवरण हम यहाँ पर नहीं दे सकते। यह बात सत्य है कि ऐसे परिवार अधिक नहीं होते किन्तु अनुचित कष्ट पहुँचाने का जब तक एक भी उदाहरण मिलता रहेगा तब तक ऐसी परिस्थिति को प्रसन्नता के भाव से नहीं देखा जा सकता। वास्तव में उचित वा अनुचित किसी भी प्रकार की यातना नहीं दी जानी चाहिए। स्त्री कोई निर्जीव वस्तु नहीं होती। उसके चेतन शरीर और स्पंदनशील हृदय होता है। इस कारण एक मानवप्राणी होने के नाते न तो उसके शरीर

पर ही आघात पहुँचाना चाहिए और न हृदय को ही चोट पहुँचानी चाहिए। अतएव जब तक स्त्रियों की स्थिति सँभाली नहीं जाती तब तक भारतीय समाज को शान्ति नहीं मिल सकती।

इन सब बातों के कहने का तात्पर्य मिस मेयो द्वारा भारत और भारतीय समाज की की हुई भर्त्सना का समर्थन करना नहीं है। महात्मा गाँधी के शब्दों में मिस मेयो ने मोरी के निरीक्षक का कार्य किया है। नगरों को स्वच्छ पानी पहुँचाने वाली कलें होती हैं और नालियों से वह गंदा पानी बहता है जो प्रयोग किए जाने पर गंदा हुआ रहता है। इसी प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित बुराइयाँ मोरी वा गंदी नाली के समान हैं जो साधारण जीवन के लिए आवश्यक मनोभावनाओं के प्रयोग में आने और गुणों के उपयोग के कारण उत्पन्न हुई होती हैं। स्वच्छता का ध्यान रखने वाला गृहस्थ इस बात का ध्यान रखता है कि गंदा पानी मोरी में न बहकर उसके हाते के अंदर ज़मीन में ही सोख जाय और वहाँ कुछ साग भाजी पैदा की जा सके। इसी प्रकार पारिवारिक जीवन की बुराइयाँ भी पचा डाली जानी चाहिए और उससे पारिवारिक स्नेह की वृद्धि करनी चाहिए। यही कार्य हिन्दू स्त्री करती हैं। इन्हीं बातों की ओर विदेशी यात्रियों का ध्यान नहीं जा सकता।

अपने पति के ऊपर अधिकार जमाने में स्त्री को अधिक समय नहीं लगता। वह अपने ससुर का आदर करती है, ननद

को प्रेमपात्री बना लेती है, सास से भय खाती है और पति से स्नेह करती है। इस प्रकार वह सब की सेवा करती है और उनकी दृष्टि में रात-दिन अपने प्रति आदर बढ़ाती रहती है। वह बहुत शीघ्र हीं पति का प्रेमपात्र बन जाती है, और कुछ समय में ही उसकी परामर्श-दायिनी और पथ-प्रदर्शिका बन जाती है, तथा वैवाहिक जीवन के दस पाँच वर्ष के बाद वह रुपये पैसे अपने हाथ से खर्च करने लगती है, पति का जीवन-क्रम निश्चित करती है तथा अपने प्रमुख परामर्श से अपनी पुत्री का विवाह करती है।

१०—माता

विदेशी यात्रियों की अविचार-पूर्ण सम्मतियों तथा हमारे यहां की परम्परा के अनुसार हमारे देश की स्त्रियों का यह दुर्भाग्य है कि वह सदा पराधीन रहती हैं और समाज में उन्हें उचित सम्मान कभी प्राप्त नहीं होता। बालिका रहने पर वह अपने पिता के संरक्षण में रहती है। स्त्री होने पर पति के संरक्षण में आती है तथा विधवा होने पर पुत्र के संरक्षण में रहती है। इस प्रकार वह सदा बन्दी बनी रहती है। सर्वसाधारण का यही विश्वास है। स्वय स्त्रियों में पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचलित परंम्परागत विश्वास भी ऐसा है। यह केवल अर्द्ध-सत्य है। मुख्य रूप में स्त्री पुरुष से भिन्न नहीं होती। पुरुष अर्द्ध स्त्री होता है और स्त्री अर्द्ध पुरुष होती है। किन्तु इसमें अर्द्ध शब्द का अर्थ गणित की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। पुरुष ८० प्रतिशत पुरुष होता है और २० प्रतिशत स्त्री और स्त्री ८० प्रतिशत स्त्री होती है और बीस प्रतिशत पुरुष। यह बात शरीर शास्त्र की दृष्टि से है। स्त्री ने पुरुष के अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ किया है। स्त्री ने अपने में अधिक अनुपात में पुरुष को विकसित करना प्रारम्भ किया है। इस कारण स्त्री की स्थिति अवश्य परिवर्तित होगी। इस प्रकार पराधीनता की भावना

मृत्यु पर्य्यन्त रखनी पड़ती है ? वास्तव में यह मानव कल्पना की एक झूठ बात है। पराधीनता की भावना हिन्दू परिवार में एक पक्षीय न होकर उभय पक्षीय होती है। परस्पर पराधीनता का भाव रक्खे बिना दो व्यक्ति एक दूसरे का आदर नहीं कर सकते तथा एक दूसरे का आदर किये बिना परस्पर स्नेह नहीं कर सकते। स्नेह आदर से उत्पन्न होता है और आदर पराधीनता की भावना से उत्पन्न होता है। जब यह बात कही जाय कि स्त्री पराधीनता की भावना में पड़ी हुई है तो उसमें वास्तविक सत्य बात यह है कि पराधीनता उभय पक्षीय है। स्त्री उतनी ही पराधीन है जितना कि पुरुष। भारतीय विवाहों के सुख का रहस्य यही है। इस संबन्ध की अधिक बातें विवाह के प्रसंग वाले अध्याय में बताई जावेंगी। जब स्त्री दो या तीन बच्चों की माता हो चुकी रहती है तो कुछ दिनों का प्रारम्भिक वैवाहिक जीवन का प्रारम्भ काल समाप्त करने के कारण एक ऊँचे स्थान को प्राप्त करती है। वह घर का प्रबन्ध करती है, रुपये पैसे अपने हाथ से खर्च करती है। पहले उसको व्यय का हिसाब करना पड़ता था किन्तु अब उसे हिसाब का लेखा नहीं देना पड़ता। हिसाब-किताब की बात पुरानी हो चुकी रहती है। एक ओर तो उसे बच्चों का बोझ सँभालना पड़ता है, दूसरी ओर घर-बार की झंझट सिरपर उठानी पड़ती है। उधर पति का भी ध्यान रखना पड़ता है इधर हिसाब-किताब की भी झंझट पड़ी रहती है। इन परिस्थितियों में माता की स्थिति बहुत झंझटों

में रहती है। पति का उसपर पूर्ण विश्वास रहता है। उनके जीवन में एकता की भावना परिव्याप्त रहती है तथा माता पिता और बच्चों के हित एक ही होते हैं और पुरुष ४० वर्ष या उससे अधिक आयु होने के कारण रुपया-पैसा अपने हाथ में रखना पसन्द नहीं करता है। अतः माता को हिसाब-किताब लिखने की झंझट से मुक्त कर दिया जाता है। माता स्वयं मालकिन बन जाती है। रुपये-पैसे के मामले और हिसाब-किताब रखने के मामले में ही उसे मालिक का पद नहीं मिला होता। बल्कि बच्चों की शादी में भी पिता की एक नहीं चलती और माता की ही बात साधारणतया मानीजाती है। अपने पुत्रों और पुत्रियों के वैवाहिक जीवन के सुख-दुख में माता को ही भाग लेना पड़ता है। माता ही पुत्र-बधू के आने पर सास बन कर रात-दिन उसके साथ रहती है। माता को ही अपनी पुत्रियों के सुख-दुख आदि का अनुभव करना पड़ता है। पिता को इतने अधिक और सार्वजनिक कार्यों में फँसे रहना पड़ता है तथा मर्य्यादा के साथ यथेष्ट जीविका अर्जन करने में उसे इतना अधिक श्रम करना पड़ता है कि उसे पारिवारिक झंझटों वा सुख-दुख की चिन्ता करने का समय नहीं रहता इस कारण दामाद वा पुत्र-वधू का अंतिम निर्णय माता के हाथ में रहता है। इस प्रकार माता ही अपने पति को इस बात के लिये विवश करती है कि दामाद को दहेज में भारी रकम दी जाय और अच्छे परिवार में शादी कर अपनी पुत्री के लिए अच्छा वर ढुँढवा

कर परिवार को ऋण-ग्रस्त बन देती है। प्रारम्भिक वैवाहिक जीवन व्यतीत कर सास और ननदों के अधीन कुछ दिनों दुलहिन के रूप में रहकर स्त्री माता बन जाती है और घर की रानी तथा मालकिन कहलाती है। बढ़े हुऐ परिवार के कारण होने वाले सुख वा दुख का उपभोग करना पड़ता है। पुत्र और पौत्र उसकी वृद्धावस्था में उसके लिये अभिशाप स्वरूप होते हैं और परिवार में उनके न होनेपर भी क्षोभ ही होता है।

१२—पति

स्त्री के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वही बात दूसरे रूप में पति के सम्बन्ध में भी है। यह केवल दूसरे रूप में नहीं है, बल्कि विलोम भी है। यह उस एकता का द्वितीय अर्द्ध भाग है जिसे सृष्टि में मानव प्राणी कहा जाता है। जब पुरुष स्त्री का उपहास करता है और स्त्री पुरुष से भय खाती है तो यह बात स्वीकार करनी चाहिये कि स्त्री और पुरुष के संयोग बिना मानवता का उसी प्रकार अस्तित्व नहीं जिस प्रकार गाड़ी को खींचने वाले घोड़े और बैल के बिना गाड़ी का अस्तित्व नहीं होता। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक होते हैं और सब से सुखी वैवाहिक जीवन वही होता है जहाँ पुरुष अपने को पूरक रूप में रखता है। आप पश्चिमी देशों के अनुसार प्रेमोपासना कर विवाह कर सकते हैं वा भारत के अनुसार विवाह करने पर प्रेमोपासना कर सकते हैं किन्तु वास्तविक बात यही है कि मोमबत्ती की रोशनी में देखे हुए रंग दिन में देखने पर उसी प्रकार नहीं होते। हम चरित्र का अध्ययन परिस्थितियों में करते हैं और परिस्थितियाँ आज्ञा देने पर विकसित नहीं की जा सकतीं। वे जीवन में स्वाभाविक गति से उत्पन्न होती हैं और शान्त रूप से उनका सामना कर उनको नियंत्रित किया जा

सकता है। सुखी दम्पति में जब एक क्रोधित होता है तो दूसरा शान्त हो जाता है। यदि दोनों उत्तेजित हों तो चिनगारी उत्पन्न हो जाती है और उनमें झगड़ा हो जाता है।

चतुर पति को स्त्री के सन्मुख अपने को पशु तुल्य नहीं बना लेना चाहिये। उसे यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि वह परिवार में भी अपनी इसी प्रकार मर्यादा बना रहा है जैसा समाज में बाहर बनाता है। उसे ऐसा अवसर उपस्थित नहीं करना चाहिये कि वह अपने को निकृष्ट समझे। संसार भर के सब लोगों की अपेक्षा स्त्री द्वारा बुरा समझा जाना पति के हृदय को बहुत ही अधिक अखरता है। उसका यह एक उद्देश्य होना चाहिये कि वह स्त्री की दृष्टि में श्रेष्ठ मालूम हो। उसे अपनी किसी बात के निर्णय करने में संतुलित तथा व्यवहार में स्नेह पूर्ण समझे जाने का प्रयत्न करना चाहिये। हिन्दुओं में पति का स्त्री से पहला परिचय विवाह संस्कार के पश्चात कोहबर में होता है। जहां बल्य विवाह को प्रथा नहीं है वहाँ स्थिति कुछ बुरी ही होती है, क्योंकि पति को स्त्री की कोई बात सोचने समझने का अवसर ही नहीं मिला होता। यदि बालिका का विवाह आठ दस वर्ष की कम आयु में होता है तो वर और कन्या का साथ ही पालन होता है। वैवाहिक संयोग होने से पहले ही उनको चार पाँच वर्ष बिताने पड़ते हैं। इस अवधि में इन दोनों के बीच पूर्ण परिचय होने का अवसर रहता है। इस अवधि के पश्चात जब दोनों युवा हो जाते हैं

तो उनमें मिलन होता है। उस समय भी कन्या संकोच और लज्जाशीलता प्रकट करती है और यह बात युवा तथा प्रतीक्षा करने वाले पति के लिये कुछ क्षुब्ध करने वाली होती है। वह सोचता है कि कन्या उसके गले से क्यों नहीं आ मिलती वा उसके अनुनय को क्यों नहीं स्वीकार करती, किन्तु हिन्दू पति को यह बात समझ लेनी चाहिये कि हिन्दू स्त्री को चाहे जो कुछ स्वतंत्रता प्राप्त हो, किन्तु वह रात को भी अपनी लज्जा और संकोच-शीलता नहीं छोड़ सकती। वे किराये की वेश्यायें नहीं होतीं जो निर्लज्जता पूर्वक आवरणहीन हो कर अपना शरीर बेचती हैं। यह कन्यायें पत्नी, हिन्दूपत्नी और कुल-बधू होती हैं जो किसी भी दशा में बिल्कुल निर्लज्ज नहीं बन सकतीं। इनको अपने आधीन करने के लिये स्नेह-प्रदर्शन और मधुर भाषण की आवश्यकता होती है। अधीर पति उतावला होकर उत्तेजित हो जाता है और प्रेमालाप तथा मधुर भाषण द्वारा नई पत्नी को फुसलाने और मनाने के स्थान पर उस पर बल प्रदर्शित करता है। यह पत्नी की सहानुभूति खोने का निश्चित मार्ग है और इसी कारण भविष्य में परस्पर दुर्भावना उत्पन्न हो जाती है। इस कारण से युवा बालिकाओं में उन्माद का रोग उत्पन्न होता है। इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि बालिका का मस्तिष्क एक शीशे की चद्दर के समान होता है और उस पर एक पत्थर मारने के समान कोई कड़ी बात कहने वा कठोर व्यवहार करने से बालिका

के युवा, निर्माणशील तथा प्रभावशील मस्तिष्क पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। टूटे हुए शीशे के समान उस पर पड़े हुये प्रभाव को मिटाया नहीं जा सकता। मस्तिष्क उत्तेजित हो जाता है और मनोभावों को धक्का पहुँचता है। अब मस्तिष्क शरीर को नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जाता है। इस तरह शरीर बिना नियन्त्रण के ही कार्य करने लगता है और स्वयं मस्तिष्क पर ही नियन्त्रण करने लगता है। उन्माद का रोग मस्तिष्क का व्यतिक्रम ही है। इसमें शक्तियों की अस्वाभाविक विलोमता के कारण शरीर ही मस्तिष्क पर नियन्त्रण करने लगता है। इसी कारण इस रोग से ग्रस्त बालिकायें अचैतन्य मालूम होने पर अर्द्ध चैतन्य मालूम पड़ती हैं और चैतन्य होने पर चैतन्य नहीं मालूम पड़तीं। वे आंख बन्द रखने पर भी देखती रहती हैं और आंख खुली होने पर भी वे अन्धी होती हैं और अन्धे की तरह वस्तुयें टटोलती रहती हैं। वे बिना किसी कष्ट के मिर्चें चबाती हैं और बेहोशी में विचित्र प्रकार के व्यायाम कर दिखलाती हैं। इन विपरीतताओं को लोग हठ और दुष्टता के कारण करना मानते हैं। इस कारण बालिकाओं को दण्ड दिया जाता है। इन सब बातों का उत्तर-दायी पति ही होता है। स्त्री का उन्माद उसी के कारण उत्पन्न हुआ होता है।

पाठक यह सोच सकते हैं कि ये सब बातें असंगत हैं। किन्तु इन सब बातों के कहने का अभिप्राय यह है कि पति को

ज्ञात हो कि स्त्री के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। उसे अपनी स्त्री को श्रेष्ठ अर्द्धाङ्ग मानना चाहिये। उसे अपनी स्त्री में अपनी ही छाया दिखाई पड़नी चाहिये और उसे परिवार का केन्द्र, घर की रानी, समाज में अपना प्रतिनिधि, अपनी मर्यादा का संरक्षक, परिवार के परंपराओं की प्रतिमूर्त्ति तथा बच्चों के लिये उदाहरण समझना चाहिये। वह अपनी स्त्री को इन अनेक रूपों में सम्पन्न बना सकता है या नहीं, यह उस पर तथा उसके स्नेह, उसकी क्षमा, उसके आत्म-संयम, उसके इन्द्रिय-दमन, उसके आचरण की शुद्धता, उसके जीवन की पवित्रता तथा स्त्री के प्रति उसके विश्वास पर निर्भर करता है। संदेह सुख का शत्रु है। यदि पति को संदेह हो तो उसे तुरंत ही स्पष्ट रूप से धीरे से अपनी स्त्री के ऊपर प्रगट कर देना चाहिये और उस बात की सफाई करा लेनी चाहिये। इसी प्रकार वह अपनी स्त्री से इसी मात्रा में निर्भीक तथा स्पष्ट बातें कर लाभ उठा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट वार्तालाप से सभी संदेह कट जाते हैं और उनकी जड़ ही कट कर दूर हो जाती है जिससे वे उत्पन्न हुए होते हैं। एक परिवार का सुख दो शक्तियों का परिणाम होता है जिसमें स्त्री और पुरुष एक दूसरे के समानान्तर न रहकर समकोण पर मिलते हैं।

१३—विधवा

बिना तप के भक्ति, बिना अभिमान के विद्या, तथा बिना गर्व के सौन्दर्य; यह सब हिन्दू पारिवारिक जीवन के गुण हैं। ये हिन्दुओं में स्त्रियों और पुरुषों के सज्ञान गुण नहीं हैं। किन्तु हिन्दू विधवा नाम से ज्ञात प्रथा में एक अपवाद होता है, क्योंकि विधवा समाज की कोई आकस्मिक बात नहीं होती। बाल विवाह की परिपाटी के कारण बाल विधवा का अनिवार्य रूप से जन्म हुआ है। भारत में सुखी और लाभप्रद वैवाहिक जीवन का एक विचित्र रूप यह है कि कहीं पर स्त्री और कहीं पुरुष को भी यह ज्ञात नहीं होता कि वे कब विवाहित हुए। वे अपने विवाह की बात स्मरण नहीं रखते हैं। अत्यंत अल्पायु में ही उनका विवाह हुआ था। वे खिलौने की तरह बड़े हुए तथा वे बाद में सचेत, लिप्सा-पूर्ण, आवेगपूर्ण तथा सुखी हुये। किन्तु बाल बिधवा न तो यही जानती है कि वह विवाहित है और न यह जानती है कि वह अब विधवा होगई है। जब वह कुछ सचेत होने लगती है, उसकी जवानी निखरने लगती है, तथा उसके शरीर का आकार, प्रकार, मानसिक उपदान तथा उसका मनोभावात्मक दृष्टिकोण उसको खिलने वाली एक कली रूप में ही नहीं, बल्कि कली बनने के पूर्व ही मुरझा जाने वाले फूल के रूप में प्रकट करते हैं, तब बिना भक्ति के

ही विधवा-जीवन की सभी साधनाएं धीरे धीरे उसके ऊपर लादी जाने लगती हैं। यहाँ पर उन कष्टों और यातनाओं का वर्णन करने का अवसर नहीं है जिन्हें बाल विधवा को झेलना पड़ता है। जब कोई अमेरिका की महिला हम पर दोषारोपण कर रही हो तो अमेरिका का छिद्रान्वेषण करना हमें बड़ा अच्छा मालूम पड़ सकता है, किन्तु दूसरे की आंख में शहतीर देखने के पहले अपनी आंख का तिनका निकाल लेना चाहिए।

किन्तु जो हिन्दू विधवा जीवन के मधुर रस का पान कर चुकी होती है, और जिन पर इस विनश्वर जगत के अन्य सभी लोगों के भाग्य-चक्र के समान अपने निश्चित समय और अवसर पर जीवन की विषमता प्रकट होती है उन विधवाओं की सब लोग ही प्रशंसा करते हैं। वह अपने पति के कटे हुए अर्द्ध भाग की तरह अर्द्धमृत और अर्द्ध जीवित रूप में रहती है और अपने भूतल के देवता, दिवंगत पति का स्मरण करती तथा देवाराधन करती हुई अपना जीवन व्यतीत करती है। भारतीय स्त्री की अपने पति में आत्म-संलग्नता, उसकी सेवा में आत्मार्पण, उसकी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति करने तथा उसकी अभिरुचि को संतुष्ट करने की सतत कामना; ये सब बातें हिन्दू विधवा द्वारा व्यतीत किये जाने वाले सर्वथा आत्म-त्याग के जीवन में निषेधात्मक रूप में उदाहरण रूप में व्यक्त होती हैं। वह दिन रात में एक ही समय भोजन

करती है, बिना किनारी वा छाप के मोटी, सादी साड़ी पहनती है। अपने बाल कटा डालती है तथा चोली उतार फेंकती है। उसका सौभाग्य-चिन्ह मिट जाता है, माथे पर की बिन्दी और पैरों की महावर सदा के लिए धुल जाती है। अपने शरीर पर वह कोई आभूषण भी नहीं रहने देती। इस प्रकार अपने शरीर की सजावट के संबन्ध में वह कभी भी विचार नही करती। एक वर्ष तक तो वह घर से बाहर निकलती ही नहीं, और बहुत आग्रह करने पर भोजन ग्रहण करती है। पति की मृत्यु के पश्चात् अपने बच्चों में ही उसकी ममता रह जाती है, क्योंकि वे बच्चे पति के रक्त और मांस ही होते हैं। वे उसके लिये पति और उसके प्रगाढ़ स्नेह के सदेह, जीवित प्रतिमूर्ति रूप में होते हैं।

हिन्दू विधवा केवल घर की ही चिन्ता करने वाली वस्तु नहीं होती, बल्कि वह समाज की भी सर्वसुलभ सेविका होती है। यदि कहीं विवाह वा तर्पण या कोई अन्य उत्सव हो तो विधवा अपने सम्बन्धियों, परिचितों और पड़ोसियों की सेवा करने के लिये उद्यत रहती है। प्राचीन समय में रसोईदार और भाड़े के मजदूर आजकल की तरह नहीं मिल सकते थे। इस कारण हिन्दू स्त्री समाज की इस भारी कमी की पूर्ति करती थी। वह समाज के वयस्क लोगों को परामर्श देनेवाली और उनका मित्र ही नहीं होती, बल्कि वह बच्चों का भी मित्र होती है; और कहानी कहने वा बच्चों को बहलाने वाले गाने और धार्मिक भजन

गाने में निपुण होती है जिसको सुनकर छोटों और बड़ों को आनंद मिलता है। उसकी पूजा, श्रद्धा, भक्ति, सेवा और पवित्रता ही उसकी संपत्ति होती है। यह संपत्ति तो अवश्य है किन्तु इनके लिये उसको कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। प्राचीन धार्मिक उत्साह और प्रवृत्ति अब ठंढी पड़ गई है, किन्तु तपस्या का वातावरण हुए बिना इन्द्रियलोलुपताओं को दबा सकना बड़ा कठिन होता है, किन्तु तपस्या का वातावरण तो अब प्राचीन काल की वस्तु रह गयी है। इस कारण युवा हिंदू विधवा की स्थिति बड़ी शोचनीय है। किन्तु बात इतनी ही नहीं है। इसमें अवश्य ही सुधार होना चाहिए। विधवा को प्रायः जीवन-निर्वाह के लिये कोई साधन नहीं होता, अतएव वह माता पिता के लिए बोझ तुल्य हो जाती है। वे उसके लिये स्नेह रखते हुए भी कुछ समय में उससे ऊब जाते हैं और अपनी विधवा पुत्री को एक विपत्ति मान लेते हैं। वे उसकी चिंता छोड़कर आनन्द से रहने लगते हैं। उनका संतानोत्पत्ति का क्रम चलता रहता है तथा विधवा को दुःख, दरिद्रता और भूख प्यास सहन करने के लिये छोड़कर और समाज में तिरस्कार योग्य वस्तु समझकर उसे पृथ्वी का जघन्य प्राणी मान लेते हैं। इस प्रकार विधवा को अपनी दुर्दशा को भोगने के लिए इसके भाई और बहन अपना विवाह आदि धूमधाम से करते हैं। किसी भी प्रथा पर विचार करने के लिए हमें अपनी दृष्टि को उसके उत्पत्ति काल की पवित्रता की ओर ले जाना चाहिये, तथा उसके मूल सिद्धान्तों

तथा वातावरण को देखना चाहिये जिसमें यह सफलता पूर्वक संचालित होती थी। किन्तु काल चक्र परिवर्त्तित होता रहता है, और हम लोगों को वंशानुक्रम से प्राप्त समाज की रचना के लिये अपने पूर्वजों को दोष नहीं दे सकते, किन्तु आज हम आधुनिक युग में युवा विधवा स्त्रियों की अत्यन्त शोचनीय अवस्था को धैर्य के साथ नहीं देख सकते। इसकी ओर ध्यान देकर इसमें घोर परिवर्तन की आवश्यकता है।

१४—महिलाओं का विलाप

क्या मेरा दुर्भाग्य है कि मैं हिन्दू समाज में पैदा हुई हूँ? लोगों का कहना है कि प्राचीन समय में यदि किसी परिवार में पुत्री उत्पन्न होती थी तो वह गंगा में फेंक दी जाती थी। विदेशियों ने हिन्दू रीति रस्मों, प्रथाओं का उपहास उड़ाने की दृष्टि से इस बात का बड़ा उल्लेख किया है। हिन्दू समाज में महिला क्यों बोझ सदृश मालूम पड़ती है? महिलाओं के बिना सृष्टि नहीं चल सकती, फिर भी क्या कारण है कि उनकी इतनी भर्त्सना की जाती है तथा जन्म लेने के बाद से जीवन की प्रत्येक अवस्था में सब लोग उसके साथ इतना अधिक तिरस्कार का व्यवहार करते हैं?

हिन्दू शास्त्रकारों ने यह सर्वत्र लिखा है कि स्त्री स्वाधीन नहीं होती। बालिका रहने पर वह पिता के आधीन रहती है, स्त्री होने पर पति के अधीन रहती है तथा विधवा होने पर पुत्र के अधीन रहती है। स्त्री के मन में प्रश्न उठता है कि मैं कब स्वतन्त्र हो सकती हूँ। क्या प्राचीन काल के पुरुष शास्त्रकारों द्वारा बनाए हुए नियम हमारे और हमारी सहयोगिनी स्त्रियों के लिए आजीवन तथा सृष्टिकाल तक के लिये अटूट हैं। लोग क्यों कहते हैं कि मैं अशिक्षित रहूँ और फिर वे ही हमपर अशिक्षा

का दोष लगाते हैं। पुरुष हमें क्यों घर की चहारदीवारी के अन्दर बन्द रखते हैं और फिर वही इस बात का रोना रोते हैं कि समस्त स्त्री जाति दुर्बल होती है। क्यों हमें चूल्हे चक्की में फेंक देते हैं और फिर चिल्लाते हैं कि मैं क्यों नहीं कमाती! वे हमें कभी अकेले यात्रा नहीं करने देते और फिर इस बात का क्षोभ प्रकट करते हैं कि मुझको सदा एक पहरेदार की आवश्यकता होती है। यह कितनी आत्मविरोधिनी बातें हैं! पुरुष संसार भर में सब से अधिक कुतर्की प्राणी है।

मैं स्कूल और कालेज में भरती क्यों नहीं हो सकती? मैं अपने वस्त्रादि स्वयं क्यों न खरीदूं, अपनी जीविका का कार्य क्यों न करूं, अपने लिये उपार्जन क्यों न करूं, अपने भाग्य का निर्णय क्यों न करूं? मैंने आज सामाजिक प्रथाओं के सभी अत्याचारों को काट फेंका है। किन्तु कानूनी बन्धन मुझे बन्दी बनाए हुए हैं। केवल अपने जीवन भर के लिये छोड़कर मैं किसी जायदाद की स्वामिनी नहीं हो सकती। अपने पति के जीवित रहने पर मैं घर की रानी हूँ तथा नौकरों चाकरों, वस्तुओं, घटनाओं और उत्सवों के समय मैं आज्ञा भी दे सकती हूँ। पति की मृत्यु होने पर मुझे अपने निर्वाह के लिये पुत्र और पुत्रबधू से याचना करने की आवश्यकता है। जो मेरे सामने निःश्वास होकर चलती थी और नम्रता पूर्वक दबी जबान से बात निकालती थी अब वही सामने अकड़कर अभिमान पूर्वक चलती है। वह अब घर की रानी बन गई है और

मैं केवल निर्वाह भर के लिये माँग सकने वाली परिवार की उपेक्षित सदस्या रह गई हूँ, जिसके भोजन का ठिकाना नहीं, नौकर चाकर नहीं, कोई अधिकार मर्य्यादा वा स्थिति नहीं। मेरे पति की शैय्या भी मुझसे छीन ली गई है। मैं अपने जिन बालों को अपने पति से कुछ ही घट कर मूल्यवान समझती हूँ वे अब कटने वाले हैं। जिन आभूषणों को मैं अपने बालों से कुछ ही कम वहुमूल्य समझती थी वे बिकने वाले हैं। मैं अपने तन को ढकने के लिये चोली नहीं पहन सकती, कोई किनारदार धोती या साड़ी नहीं पहन सकती, मैं जीवन के तप से अधिक मूल्य-वान पदार्थ पति से पहले ही विहीन हो चुकी हूँ। क्या मुझे अभी जीवन के सभी आनन्दों तथा कला सौन्दर्य्य और दुःख सुख की सभी चीजों से वंचित रहना पड़ेगा? तपश्चर्य्या की भावना स्वेच्छा से होनी चाहिये। वह वाह्य रूप से समाज द्वारा भी नहीं लायी जानी चाहिये। मेरा पुत्र मुझसे इस बात की सलाह भी नहीं लेता कि मेरी पुत्री को क्या वस्तु भेंट दी जानी चाहिये। मेरी बीमारी से घर में किसी को कुछ चिन्ता नहीं। मेरी पुत्रियाँ मुझसे अलग हो चुकी हैं और वे नये परिवारों का केन्द्र बन रही हैं। वे कालान्तर में कदाचित मेरे ही समान दुर्भाग्य को रोयेंगी। उफ! मेरी कितनी इच्छा होती है कि मैं पति के सम्मुख ही क्यों न मर गई।

किन्तु यह किस प्रकार हो सकता है? मैं अपने पति से छः या दस वर्ष की छोटी हूँ, इस कारण विधवापन मेरे भाग्य की

स्वाभाविक और अनिवार्य बात है। कोई विधुर चाहे जितने भी वयस्क क्यों न हों अपना पुनर्विवाह कर सकते हैं, उसी प्रकार विधवा को अपने पुनर्विवाह का अधिकार क्यों नहीं मिलता? किन्तु ऐसा नहीं है। बाल-विधवा भी अपना विवाह नहीं कर सकती, यह कितनी दुःख की बात है। एक ओर जहाँ बाल विधवा अनिवार्य विधवापन की यातना सहती रहती है और माता-पिता की सेविका बनी रहती है, वहाँ माता-पिता स्वयं निर्लज्जता पूर्वक सन्तान उत्पन्न करते जाते हैं। वे अपनी विधवा पुत्री के अमिट दुर्भाग्य और विपत्ति की ओर कभी ध्यान नहीं देते।

मैं निश्चय ही विद्रोह करूँगी और जीवन तथा समाज की अवस्थाएँ पलट दूँगी। मैं अब वह कीट न बनूँगी जो स्वेच्छा से पैरों तले रौंदा जाय। कीट भी दन्त-प्रहार करता है। मैं अपना विवाह ही क्यों होने दूँ। नहीं, मैं विवाह नहीं करूँगी। कल्पना कीजिये कि मैंने विवाह ही कर लिया, तो मैं अपने पति के घर क्यों रहूँ। वही हमारे माता-पिता के घर क्यों न रहे। किन्तु यह कहा जायगा कि मुझे अपने पिता की संपत्ति में कोई अधिकार नहीं किन्तु यह कहा जाना भी मेरे लिये दुःख का कारण है। मुसलमान बहिनें अपने भाई के भाग का अर्द्धांश पाती हैं। मैं भी उतने भाग में भाई का अर्द्धांश स्त्री रूप में क्यों न पाऊँ। मैं अपनी संपत्ति का वसीयत करने और अपनी इच्छानुसार उसको किसी भी काम में लाने बेचने के लिये स्वतन्त्र क्यों न होऊँ? मैं एक

आदमी के साथ बँधी हूँ। किन्तु इस बात की कोई चिन्ता नहीं करता कि वह अंधा है या लँगड़ा, मानव है या पशु, वह ठीक ठीक बुद्धि का है वा मतवाला, उसके निर्वाह का साधन है या वह निर्वाह हीन है, वह भला है या बुरा। किन्तु मुझको दुतकारने वा अपना दूसरा विवाह कर मेरी दुर्दशा करने, तथा मुझको घर की नौकरानी बनाने के लिये स्वतंत्र है। समाज इन आलोचनाओं को सहन करता है। यदि मेरा पति कोढ़ी वा नपुंसक है तो कम से कम मुझको उससे पृथक होने का अधिकार होना चाहिये। उसकी मृत्यु पर मेरी इच्छा होने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार होना चाहिये। पुरुष तो रेलगाड़ियों में भी स्त्रियों के लिये अलग डब्बे नियत कर देते हैं। वे सार्वजनिक सभाओं में हमारे लिये पृथक स्थान नियुक्त कर देते हैं। गाड़ियों में पुरुषों और स्त्रियों के लिये ही क्यों अलग अलग स्थान रक्खे जायं? सिनेमा में भी पुरुषों के लिये कोई पृथक स्थान क्यों न रक्खा जाय। जब मेरा विवाह होता है तो मैं किसी पुरुष को प्रदान की जाती हूँ। यह बात इस प्रकार क्यों न कही जाय कि मेरा पति विवाह में मुझको प्रदान किया गया। जिन लोगों में कुछ भी राष्ट्रीयता की भावना है वे अपने पूर्वजों, अपने रीति रस्मों, और प्रथाओं, अपनी परंपरा, सभ्यता तथा संस्कृति आदि भव्य शब्दों से पुकारी जाने वाली वस्तुओं की प्रशंसा करते हुए फूले नहीं समाते। उनका कथन है कि भारतीय स्त्रियां बहुत सुखी हैं। एक नेता का कथन है कि संसार भर की स्त्रियां भारतीय स्त्रियों के

सौभाग्य से ईर्ष्या करती हैं। वास्तव में ऐसी बात है ? कदाचित भारतीय स्त्रियां इस कारण अधिक सुखी हैं कि अन्य देशों के समान हमारे यहां मदिरा पान अधिक मात्रा में नहीं है। शीघ्र विवाहविच्छेद कर क्षोभ करते रहने की प्रथा भी हमारे यहाँ नहीं हैं। किन्तु इन सब बातों के अतिरिक्त भारतीय स्त्रियों के लिए कुछ और बातें भी नहीं हैं जिनसे शेष समाज उनको अधिक सौभाग्यशाली समझकर ईर्ष्या कर सके।और यदि सम्यक रूप से सामाजिक सुधार की योजना की जा सके तो हमारी स्त्रियों को संसार की अन्य स्त्रियों में ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई पड़ेगी जिसकी ओर वे लोलुप दृष्टि से देखें।

१५—बालक का विलाप

मैं किसी समय शिशु था। उसके बाद मैं कुमार और नवयुवक रहा। अब मैं एक प्रौढ़ पुरुष हूँ। मेरे बच्चे भी हैं। किन्तु कुछ पूर्व जन्म के संस्कार के कारण मुझे अपने बचपन की सब घटनाएं स्मरण हैं। मैं जब पैदा हुआ उसी समय मेरी कठिनाइयां पैदा हुईं। नये बच्चे के पैदा होने पर उसके रोने पर जीवन प्रारंभ होता है। यदि बच्चा पैदा होते ही नहीं रोता तो उसको जोर से पीटा जाता है। शरीर-शास्त्रवेत्ता बतलाते हैं कि बच्चे का ठंढी हवा से संयोग होने पर उसकी सांस आने की क्रिया प्रारंभ हो कर बच्चे में सांस आने के लिये उसे पीटा जाता है। प्रकृति बच्चे को सांस लेने के लिये उसका ठंढी हवा का संयोग कराती है। यह अवस्था निर्दोष और अहानिकर है। किन्तु इसके स्थान पर बच्चे को पीटकर सांस आना-जाना प्रारंभ कराने की क्रिया क्रूर मालूम होती है। और मुझको सांस लेना प्रारम्भ कराने और जीने के लिये पीटकर जो क्रूरता प्रारम्भ हुई वह मेरे द्वारा अपने बच्चों के पीटने पर ही समाप्त होती है। मुझे जिन कष्टों और यातनाओं को भोगने का अवसर मिला उन सब को मैं स्मरण करता हूँ। इस कारण मैं माता-पिताओं को चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि उनको अपने बच्चों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिये।

हिन्दू माता प्रायः अल्पायु माता होती है और उसके संतान होने के समय उसकी आयु कदाचित १४ या १५ वर्ष से अधिक की नहीं होती। उसे न तो बच्चे के पालन करने का ही ढंग मालूम रहता है और न वह इतनी छोटी आयु में अपनी इतनी चिन्ता करती है। स्वयं ही बालिका होने पर वह सो जाया करती है तथा वह अपने सुखों के ऊपर नियंत्रण रखने में समर्थ नहीं होती। बच्चा माता-पिता के लिये एक झंझट की वस्तु होता है, अतएव जब कभी मैं रोता था तो किसी को यह जानने की चिन्ता ही नहीं होती थी कि मैं क्यों रोता हूँ। एक समय माता के भोजन-व्यतिक्रम के कारण मेरे पेट में दर्द होता था, दूसरे समय खुली हवा में नहाने और ठंढक लगजाने के कारण मेरे कान में दर्द हो रहा था, तीसरे अवसर पर मुझको ज्वर था, आग में जल जाने के कारण मेरे माथे पर दाग पड़ गया था, नाक छिल गई थी, आँख में कोई तेज दवा पड़ गई, नाक में सुंघनी घुस गई थी। मेरी पहली भावना यह थी कि मैं प्रत्येक वस्तु को खाजाऊँ। खेलने के लिये जो खिलौना मुझको मिलता था उसको भी मैं निगलना चाहता था, किन्तु जब वह मुँह में नहीं जाता था तब मैं रोता था। जब कभी मैं रोता था तो पीटा जाता था, किन्तु जब मेरे हृदय में दुख होता था मस्तिष्क में क्रोध उत्पन्न होता था, आवेग के कारण मेरे सारे शरीर के तल पर रक्त उमड़ पड़ता तो मैं किस प्रकार चुप रह सकता था। इन्जिन से निकलते हुए भाप के

फौव्वारों को जिस प्रकार तुरन्त रोक नहीं सकते हैं इसी प्रकार रोने को नहीं रोका जा सकता। मारने की धमकी देकर वा कोई बटन दबाकर अपनी आज्ञा पर आवेगों को तुरन्त उत्पन्न वा शान्त नहीं कर सकते, अतएव मैं रोना नहीं बन्द करता था, वास्तव में बन्द कर भी नहीं सकता था, इस लिये मैं ज्यादा पीटा जाता था और ज्यादा पीटे जाने पर ज्यादा रोता था, इस प्रकार यह दुष्ट चक्र चलता रहता जिसके परिणाम-स्वरूप मैं प्राय: निष्प्राण हो जाया करता था। मैं कुछ बड़ा हुआ तो चलने लगा और जहां मैं केवल चल सकता था वहां दौड़ता था। मैं लड़-खड़ा जाता तो इस पर मेरे माता-पिता मुझको झिड़कते थे। हिन्दू घरों में दरवाजे पर ऊँचा चौखटा होता है और एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के लिये सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती थीं। मकान के कमरों में किसी की कुर्सी नीची और किसी की ऊँची थी। इस कारण मेरे चलने फिरने में बड़ी बाधा पड़ती थी। बच्चों का यह स्वभाव होता है कि केवल चलने फिरने की ही शक्ति पर वे दौड़ना चाहते हैं। जीवन एक कड़े अनुशासन का सैन्य संगठन ही है जो ठीक आदेश ले लेकर कहीं खड़ा हो जावे वा दायें बायें चले वा तेज चाल से चले या एक ही स्थान पर खड़े होकर पैर पटकता रहे। मुझमें अत्यधिक चपलता थी और मैं इसलिये दौड़ता, गिरता पड़ता, मार खाता फिरता था।

जब मैं कुछ और बड़ा हुआ तो मुझे सड़क पर चलने का निषेध कर दिया गया। मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि सड़क पर

बड़ी भीड़भाड़ होती है तथा मोटरों से जान का खतरा रहता है। और मोटर के पीछे जो गर्दा उड़ता है वह स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है किन्तु ५ या ६ वर्ष की आयु का बच्चा तार्किक नहीं हो सकता। मेरा ननिहाल मेरे ही नगर में था, इस कारण मैं नाना के घर प्रायः अकेले चलाजाया करता था और उसके लिये मैं मार खाता था। जब मैं बच्चा था तो मुझे अपने पिता के साथ सोने और साथ खाने में प्रसन्नता होती थी, क्यों कि मेरे माता-पिता में पिता ही मेरा अधिक दुलार करते थे और माता मुझको दुलार करने के लिये झिड़कती थी। इसका कुछ कारण था। मेरी माता मुझसे परेशान रहती थी, क्योंकि मैं उसे दिन भर तंग करता था। पिता जब दिन भर काम करने के बाद घर आते थे तो मेरे लिये कुछ न कुछ लेते आते थे और वे मुझे माता से अधिक प्रिय लगते थे, क्योंकि माता मुझे अक्सर पीटती रहती थी। मैं तुरन्त ही उनसे दिन भर की शिकायत करता था। इससे माता और भी चिढ़ जाती थी और मुझे पीटना फटकारना प्रारम्भ कर देती थी। कुछ समय बाद पिता जी ने भी मुझे पीटना प्रारम्भ किया। वे जोर जोर से भी पीटने लगे। वे जो भी चीज पाते उसी से मारने लगते। वे मुझे पटक भी देते छाती पर ठोकर लगाते और गला घोट देते थे। मैं कभी कभी सोचता था कि क्या वे इन सब बातों पर कभी पछतावा भी करते थे, किन्तु उनकी स्थिति एक शराबी आदमी से अच्छी नहीं थी।

वे अकेले में अवश्य ही पश्चात्ताप करते थे, किन्तु उसके बाद ही उनमें वही मूढ़ता आ जाती थी। मैं जब अधिक बड़ा हुआ और स्कूल में पहुँचा तो वहाँ गणित की मामूली बातें न बता सकने के कारण शिक्षक द्वारा पीटा जाने लगा। मैं गणित में सदा कमजोर था, लेकिन भाषा में तेज था। मुझको गणित में एक अंक कम मिला था, इसलिये मैं आगे की कक्षा में न जा सका। घर में पढ़ाई लिखाई करने का काम दिया जाता था और अध्यापक कुर्सी पर सोते रहते थे। वे अपनी कारगुजारी मार पीट कर दिखाते थे। सौभाग्यवश मेरा अध्ययन समाप्त हुआ। मुझे विश्वास हुआ कि मुझको जीवन में अब मारने पीटने वाला कोई नहीं है। कदाचित मेरे बच्चे बालकपन के दण्ड का बदला मुझसे चुकाने के लिये कमर बाँधें तो उनके द्वारा मुझे मार खानी पड़े। मैं आशा करता हूँ कि अच्छा समय आयेगा और वस्तुओं में सुधार होगा, बाल मनोविज्ञान का अध्ययन किया जायगा और माता पिता बच्चों को मारना पीटना बन्द करेंगे।

—:०:—

१६—भारतीय स्त्रियाँ

यदि किसी विचारशील भारतीय स्त्री से पूछा जाय कि अपने देश की बहनों के साथ पुरुषों के व्यवहार पर उसके क्या विचार हैं तो वह पहले स्त्रियों की की जाने वाली प्रशंसा पर घृणा की भावना प्रगट करेगी। फिर वह पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार के कठोरता की निन्दा करेगी। इस घृणा और इस निन्दा का क्या कारण है ? बात यह है कि सभी प्रशंसाएं वास्तविक गुणगान होनी चाहिये। वह किसी प्रकार काम निकालने वाला स्वार्थ न होना चाहिये। भारत में हम माताओं बहिनों और स्त्रियों की सदा अत्यधिक प्रशंसा सहिष्णुता, धैर्य तथा विश्वस्तता के लिये ही करते हैं। उनमें देवदूतों का धैर्य्य वीरों का शौर्य्य, और मित्र की भक्ति होती है। किन्तु यदि इन सब गुणानुवादों का परिणाम यह हो कि सब कुछ तो प्राप्त किया जाय किन्तु दिया कुछ भी न जाय तो केवल यह एक-पक्षीय व्यवहार ही नहीं होता, किन्तु मानव जाति का घोर पतन है। प्राचीन युग के स्वर्णिम समय में भारतीय स्त्रियों का आदर्श समाज में भली भाँति स्थिर रहता था और उसके स्थिर और प्रगतिशील बनने में भी सहायक होता था। यह पुरुषों की सहज परिवर्तन-शीलता के लिये मूल्यवान अंकुश सिद्ध हुआ और

इसने रूढिवाद को जन्म दिया जिसके द्वारा परम्परा की अमूल्य संपत्ति बड़े उद्योग पूर्वक संचित की गई थी। हम लोग ऐसी स्थिति में पहुंच गये हैं कि इसमें समाज केवल स्थिर ही नहीं होगया है, किन्तु पत्थर की तरह अचल और निष्प्राण भी हो गया है। इस परिणाम को उपस्थित करने वाले अनेक कारण हैं। किसी देश में सामाजिक और राजनैतिक अधिकारियों के बीच बढ़ती हुई खाई इन कारणों में मुख्य होती है। भारतवर्ष में राजा केवल लोक-नायक ही नहीं होता था, किन्तु समाज-नायक भी होता था। विदेशी सरकार साधारणतया सामाजिक बातों के पचड़े में पड़ने से बचना चाहती है। अतएव वह परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करती। इससे भी बुरी बात यह है कि युग की आवश्यकता होने पर भी जो नये परिवर्तन किये जाते हैं, उनका वह विरोध करती है। एक विदेशी शासक अपने साथ अपनी निजी वेशभूषा, अभिरुचि, माप, कसौटी, कानून तथा प्रथाएं लाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय अधः-पात होने लगता है। लोगों के विचारों और मनोभावनाओं में इतना घोर परिवर्तन हो जाता है कि समाज का अधिक रूढ़ि वादी अंग साधारण क्रम से अधिक परिवर्तन होने से बहुत भय खाता है। इस प्रकार स्त्री अपनी संचित संपत्ति और वंशानुगत बातों पर विजातीय प्रभाव न पड़ने देने के लिये घर की मुख्य रक्षिका बन जाती है।

यदि भारतीय स्त्री रूढ़िवादी शक्ति न होती जिसका उसने

प्रत्येक समय प्रतिनिधित्व किया है तो हिन्दू समाज में अब-तक घोर परिवर्तन होगया होता। अपनी इसी बहुमूल्य सेवा के कारण उसे भारतीय पुरुषों से प्रशंसा प्राप्त हुई होती है। वह शताब्दियों तक भारतीय परिवार की रक्षिका सदृश रही है। इस बात के ही कारण वह सभी परिवर्तनों की घोर विरोधिनी हो गई है। इतना हीनहीं इस सीमाबद्ध कर्त्तव्य के कारण भारतीय स्त्रियों का दृष्टिकोण सीमित और संकुचित हो गया है। अब समय आगया है कि इन घरेलू और संरक्षण के कार्यों से उसे मुक्ति दी जाय। उसके हाथ में भारतीय समाज की पुनर्रचना का कार्य दिया जाना चाहिये और उसे प्राचीन काल के अन्ध विश्वासों और पक्षपातों से दूर रहना चाहिये। इस नव जागृति, इस पुनरुत्थान और नव निर्माण के कार्य्य में स्त्रियों को पुरुष के क्रियाशील पथप्रदर्शन की आवश्यकता है। उसे पथप्रदर्शन तो मिलता ही नहीं बल्कि उसको ही प्रगतिशील और सहायक न होने का दोषी बनाया जाता है। किन्तु जब तक वह परिवर्तन के लाभ और आवश्यकता को स्वयं न समझ ले तब तक वह वैसा नहीं हो सकती। मनुष्य इस की कल्पना करता है कि स्त्री को भी वही बात ज्ञात होनी चाहिये जो उसे है और स्त्री को भी वही कार्य करना चाहिये जो वह करता है। वह स्त्री के साथ बराबरी के साथ व्यवहार नहीं करता। इसका कारण यह नहीं है कि अवसर आने पर समानता के पद की माँग वह स्वयं नहीं करती, बल्कि समानता का पद स्वेच्छा से

और प्रसन्नता पूर्वक उसे नहीं दिया जाता। वास्तव में समानता का पद प्रदान करने को कोई रियायत न मानना चाहिये। यह तो मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्त्री को समानता का पद प्रदान करे जब स्त्री और पुरुष के बीच समानता स्वाभाविक रूप में नहीं आ टपकती और उसे बरबस प्राप्त करना होता है तो इनमें सहयोग या तो बल-पूर्वक और आपत्ति के साथ हो सकता है वा जहाँ कहीं संभव हो यह हो ही नहीं पाता। यही कारण है कि हमें सामाजिक सुधार की बातों में हमेशा कष्ट हुआ है। स्त्री को पुरुष अपना विश्वास-पात्र नहीं बनाता आया है। उससे अनुगमन करने की ही आशा की जाती है, इस कारण वह एक बाधा सिद्ध होती है। तब उसे अज्ञानता की खान कहकर दोष दिया जाता है और मनुष्य अपने कर्तव्य से असावधान होने में स्त्री को ही एक बहाना बतलाता है। वास्तव में उसके दोषी होने के स्थान पर दोषी दूसरे ही हैं। हम लोगों को ऐसा अनुभव करने का अनेक अवसर आता है कि हम अपनी बहिनों, स्त्रियों, माताओं और बहिनों के पास बैठे होने पर उनको बतलाते हैं कि बालविवाह के कारण बड़ी हानि पहुँचती है। विश्वविद्यालय की शिक्षा में भी अनेक दुगुण हैं। चर्खा खद्दर आदि की बातें भी उनके सामने रक्खी जाती हैं तो हमें यह देखकर आश्चर्य्य होता है कि स्त्रियाँ इन नवीन विचारों को सुगमतया ग्रहण करने के लिये तैयार होती हैं। वे वर्तमान अवस्थाओं में किये जाने वाले परि-

वर्तनों की आवश्यकता समझ सकती हैं तथा वे पुरुषों को वास्तविक सहयोग देने के लिये तत्पर रहती हैं। वे इन सुधारों का समर्थन करने के लिये तैयार रहती हैं किन्तु समाज की बाधा सर्वत्र इतनी अधिक है कि उस कारण घोर निराशा छा जाती है और कुछ करते धरते नहीं बनता, किन्तु हम अपनी स्त्रियों का ध्यान इन सामाजिक बुराइयों की ओर दिलावें और उनके सुधार कराने की आवश्यकता अनुभव करावें तो हमें कोरी सहानुभूति ही नहीं प्राप्त हो सकती, बल्कि क्रियाशील सहायता भी प्राप्त हो सकती है। परिवार के बाहर मनुष्य को जीवन में इतनी अधिक शक्तियों का सामना करना पड़ता है कि उसको घर के अंदर के झगड़ों का बोझा उठाने की इच्छा वा शक्ति नहीं होती। लड़ने की अपेक्षा शिक्षा कठिन कार्य है। इस कारण अधिकांश पुरुष स्त्रियों का मस्तिष्क विकसित कर उनके सहयोग और सहायता प्राप्त करने के स्थान पर उनकी अज्ञानता पर ही लाँछन लगाकर संतुष्ट हो जाते हैं। भारतीय परिवार की दुखद बात है कि भारतीय स्त्रियाँ ऐसे वतावरण में नहीं आने दी जातीं जहाँ प्रगति की शक्तियों के उनके मस्तिष्क पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने का अवसर होता है। उनमें मनुष्य के प्रभाव से जो प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुई होती हैं उनको मनुष्य विशेष उद्योग कर शाँत करने का उद्योग नहीं करता तथा उनपर नियंत्रण करने के स्थान पर उनके विचार अपने अनुकूल नहीं बनाता जिससे उसकी जीवन-सहचरी उसके साथ एक

होकर समान रूप से सोचे विचारे, अनुभव करे और कार्य करे।

हमारे देश के सामने जो इस समय विकट समस्या है कि संपत्ति के बँटवारे में स्त्रियों को पुरुषों के समान अवसर और न्यायपूर्ण भाग मिले और उनका अपने पति वा पिता से मिलने वाली संपत्ति पर निर्बाध उत्तराधिकार हो, इस विषय के अनेक पहलुओं पर विचार करने का यहाँ पर उपयुक्त अवसर नहीं है। इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि आज-कल ऐसे लोग बहुत कम मिल सकते हैं जो इस विषय में स्त्रियों की मांग के औचित्य में गहरा संदेह करें, किन्तु यह बात कह देना आवश्यक है कि सब कुछ मान लेने पर भी अत्यधिक प्रगतिशील और उग्र सुधारक को यह बात अस्वीकार नहीं हो सकती कि स्त्रियों की जितनी दुर्बलताएं वा शिकायतें हैं उनमें से कितनी ही मानसिक वा तात्विक होने के स्थान पर मनोभावात्मक होती हैं और उनकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना उचित और लाभप्रद हो सकता है। हम नहीं कह सकते कि उसके क्या कारण हैं, किन्तु वास्तविक बात यह है कि स्त्रियों में उचित निर्णय वा स्थायी निश्चय की वैसी क्षमता नहीं होती जो उनकी सत्य अनुभव करने की स्वाभाविक प्रेरणा की ख्याति के अनुरूप हो। वे प्रशंसा और चाटुकारिता से अतिशीघ्र प्रभावित होने वाली होती हैं। इस कारण उनका निर्णय भी इसी प्रकार का होता है। यह स्त्रियों की ही दुर्बलता नहीं है बल्कि बहुत से

अन्य लोगों में भी निर्बलता पाई जाती है। इसके विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। यदि मनुष्यों का निर्णय उनके दावे के अनुसार न्याय-संगत होता है और वे निर्णय पर अधिक दृढ़ता से स्थिर रह सकते हैं तो किसी प्रकार आंशिक रूप में इसका कारण यह बतलाया जा सकता है कि वे अपनी इन शक्तियों को अनवरत व्यवहार में लाते हैं और वे सब बातों की जानकारी रखते रहते हैं। व्यवहार के कारण ही मनुष्य पूर्ण बनता है। इसी प्रकार स्त्री भी पूर्ण बन सकती है। संपत्ति का अधिक अधिकार और प्रबन्ध कार्य से अधिक संसर्ग तथा जीवन में अधिक उलट-फेरों से अधिक अनुभव होता है और स्त्रियों तथा पुरुषों को इससे इस सर्व-विदित सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा मिलती है कि मनुष्य भूलों से सीखता है इस कारण यह अच्छा है कि स्त्रियाँ अपना उसी प्रकार परिचय प्राप्त करें जैसा दूसरे उनसे परिचय रखते हैं और वे आत्मतुष्टि के संसार में संतुष्ट बनकर ही न पड़ी रहें। हम अपनी स्त्रियों को समय पर ही एक चेतावनी दे देना चाहते। हैं जिसका सम्बन्ध प्रत्येक परिवार के अर्द्ध दुखद रूप। से है हम चाहे जो कुछ कहें किन्तु हमें यह बात चिन्तापूर्वक वा शोकपूर्वक स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि हमारी स्त्रियाँ अपने बच्चों के साथ कुछ क्रूरता का उपयोग करती हैं। यह बात नहीं है कि पुरुष भी जब तब क्रूर नहीं होजाते किन्तु स्त्रियाँ अपने बच्चों के रात दिन के नटखटपन के कारण तंग आजाने के

कारण उनके साथ हृदय-हीनता का व्यवहार करती हैं। वे लगभग बच्चों का गला घोट देती हैं। और उन्हें जब वे जवाब देते हैं तो वे उनको कोसती हैं। वे अपने अमानुषिक व्यवहार पर शोक करती हैं। उनकी यह बात तो प्रशंसनीय है किन्तु इससे उनका अपराध कुछ कम नहीं होता हिन्दू परिवार में क्रोध का खुलकर प्रकोप होने दिया जाता है। किन्तु उसके नियंत्रण के कला की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। परिवार के सदस्यों की अपेक्षा परिवार का मालिक अधिक दोषी होता है और स्त्री जो कदाचित अपने पति के हाथ प्राय: कष्ट पाती रहती है अपने क्रोध को अपने बच्चों पर निकालती रहती है। ऐसी उत्तेजना और क्रोध के वातावरण में पले हुए बच्चे धैर्य्य के देव-दूत नहीं हो सकते। भारत वर्ष के घरेलू और सामाजिक जीवन के इस तुच्छ जान पड़ने वाले पहलू पर बहुत कुछ कहा जा सकता है और जब लेखक इस साधारण बात पर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं तो पाठकों को यह अनुभव होने लगता कि वे इस विषय में स्वयं ही दोषी हैं। हमारीं स्त्रियों और पुरुषों मे सलन्ध के इस अपराध या दुर्बलता के संबन्ध में व्यक्तिगत और समाजिक दोनों सुधार करने का पहला मार्ग है इस कारण इन पृष्ठों में हम उन समस्याओं की क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं समझते जिनकी चर्चा करना ही निस्सन्देह रूप से इतना जटिल है जिकना उसको निराकरण। किन्तु राष्ट्र की प्रगति खण्डश: नहीं हो सकती है और विदेशियों द्वारा की

हुई कटु आलोचना का हम चाहे जितना विरोध करें किन्तु यह हमारा आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि अपने समाज के विरुद्ध की हुई सभी समालोचनाओं के गुण दोष पर विचार करें और अपनी स्त्रियों और पुरुषों दोनों की दुर्बलताओं की ओर उनका ध्यान आकर्षित करें जिससे हमारा राष्ट्र उन्नत हो सके।

१७—राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों का स्थान

स्त्रियाँ और आन्दोलन, ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। किन्तु वास्तविक बात यह है कि स्त्रियों ने सभ्यता के संपूर्ण इतिहास में लगभग प्रत्येक देश में राष्ट्र के निर्माण में लगभग महत्वपूर्ण भाग लिया है। केवल यह बात हुई है कि उन्होंने वैसे आक्रामक और धृष्ट रूप से भाग नहीं लिया है जैसा पुरुष भाग लेते आये हैं, किन्तु उसकी कोमलता ही उसके सूक्ष्म और भारी प्रभाव का प्रमाण है जो वह राष्ट्र के भाग्यनिर्णय में प्रयुक्त करने में सदा समर्थ रही है। गृह की स्वामिनी स्त्री और माता के रूप में अधिक परुष पुरुष को कुछ विनम्र और कोमल बनाने में भाई, पति और पुत्र के अधिक भयानक और कदाचित अधिक पाशविक गुणों पर उसने प्रभाव डाला है जिसका अनुभव परिवार के मनोविज्ञान के अध्ययन में प्रवीण पुरुषों के अतिरिक्त दूसरों को सहज ही नहीं हो सकता। भूतकाल में चाहे जो अवस्था रही हो किन्तु किसी प्रकार आधुनिक युग में यह सम्भव नहीं है कि स्त्रियों को केवल चूल्हे चक्कियों में ही फँसा रखा जाय। अब केवल स्त्रियों को बाहर निकलने का ही अधिकार नहीं है, बल्कि अब यह मनुष्य का कर्तव्य माना जाने लगा है

कि वे अपनी स्त्रियों को मानवहित के विस्तृत क्षेत्र में कार्य्य और उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में समान अधिकार प्रदान करें। यह बात मनुष्य के कुछ अपने लाभ की भी अवश्य है जिससे उसने समाज के ऐसे नये परिवर्तन के लाभ को स्वीकार करना प्रारम्भ किया है। स्त्री के बिना पुरुष केवल अर्द्ध मानव ही है और पुरुष के बिना स्त्री भी अर्द्धाङ्ग ही है। पुरुष में स्त्री के गुण चालीस वा कम से कम बीस प्रतिशत होते हैं। इसी प्रकार स्त्री में पुरुष के गुण और लक्षण बीस या चालीस प्रतिशत तक होते हैं। जब हम किसी स्त्री को मर्दाना वा किसी पुरुष को जनाना कहते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि उस व्यक्ति में उन बातों की अधिक मात्रा है जिससे उसका द्वितीय अर्द्धाङ्ग निर्मित होता है। इस प्रकार यह आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रत्येक शताब्दी और दशाब्दी के आगमन पर समाज और राजनीति में स्त्री को अधिक से अधिक न्याय पूर्ण स्थान मिलता जा रहा है।

जब १६१६ ई० में भारत वर्ष में भारत-मन्त्री श्रीमान मां मांटेग्यू का आगमन हुआ तो भारत वर्ष की स्त्रियों ने अपनी बातें उनके सामने रक्खीं और उनके अधिकार मांगते ही उसे स्वीकार कर लिया गया और यह आश्चर्य की बात है कि इस देश में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही पूर्ण समानता का पद तुरन्त दे दिया गया। १६१७ की कलकत्ता कांग्रेस ने अपनी यह सम्मति घोषित की थी कि स्वायत्त शासन और शिक्षा से

सम्बन्ध रखने वाली प्रतिनिधि-सत्ताक सभाओं में पुरुषों और स्त्रियों के मताधिकार और खड़े होने के सम्बन्ध में एक ही नियम रक्खे जायँ। वह उचित घोषणा ऐसे कांग्रेस द्वारा हुई थी जिसके सभापतित्व का अवसर विश्व-विख्यात महिला श्रीमती बिसेन्ट को मिला था। जब सन् १६२० ई० में राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर महात्मा गांधी ने ली तो स्त्रियां कुछ कम मर्दाने रूप में आगे आईं। उनकी तथा उनके चर्खे की ओर सारे संसार का ध्यान आकर्षित हुआ। जब चर्खे को राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य आधार बनाया गया तो हमारे देश की स्त्रियों ने स्वभावतः ही यह अनुभव किया कि राष्ट्र को भोजन और वस्त्र देने का श्रेय उन्हीं को है। इस महत्व के कारण स्त्रियों में केवल गर्व की ही भावना नहीं उत्पन्न हुई, बल्कि उनमें उत्तरदायित्व की भी भावना आई। स्त्रियों ने राष्ट्रीय कार्य-क्रम के सामाजिक कार्य में अधिक से अधिक मुख्य भाग लेना प्रारम्भ किया।

जब १६३० ई० में अकस्मात डंडी में गांधी जी द्वारा नमक कानून तोड़े जाने पर नमक-सत्याग्रह के ऊपर महान आन्दोलन प्रारम्भ हो गया तो गांधी जी ने यह आदेश दिया कि स्त्रियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में उचित स्थान ग्रहण करना चाहिये। जब गांधी जी ने स्त्रियों को कहा कि वे बाजार में जाकर शराब पीने वाले गुंडों के बीच दूकानों पर धरना दें तो यह सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। लोग सोचते थे कि

उनका अपमान होगा किन्तु लोगों की कल्पनाएं सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुईं। शराब पीने वालों वा विदेशी कपड़ा बेचने वालों ने स्त्रियों का अपमान नहीं किया।

बंबई में स्त्रियों को जो सफलता मिली और जिस सुन्दर ढंग से उन्होंने बाज़ार का नियंत्रण किया, वे बातें चिरस्मरणीय हैं। सहिष्णुता ही स्त्रियों का अस्त्र है और मानवप्राणी में ऐसा गुण कहाँ है जो धैर्य और लम्बी यातना के सामने न झुक जाय। मनुष्य को पशु बनाने वाला गुण क्रोध है जिसे स्त्री सर्व-साधारण के सम्मुख नहीं प्रकट करती और जब एक बार क्रोध नियंत्रित कर लिया गया तो ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्राप्त न की जा सके। इसी बात को महात्मा गाँधी ने पहले अनुभव किया और स्त्रियों को आन्दोलन में पड़कर भाग लेने का आह्वान किया। उन्होंने आन्दोलन में भाग लिया और विजयी हुईं।

भारतीय स्त्री केवल सामाजिक क्षेत्र में ही भाग लेने वाली नहीं होती, बल्कि उसमें विवेक की मात्रा भी होती है जो किसी प्रकार पुरुषों से कम नहीं होती। कौन्सिल में कांग्रेस के प्रवेश करने और कांग्रेस की सभा-समितियों की कार्रवाई को देखने से भी कांग्रेस के स्त्री सदस्यों की कार्य्य-शक्ति प्रकट हो सकी है। इन स्त्रियों की कोमल अभिरुचि और साहस-हीनता की बात अब झूठी सिद्ध हुई है। केवल मुखाकृति वा आवेगों के उद्रेक से ही स्त्रियों का चरित्र नहीं समझा जा सकता। उसकी निर्णय शक्ति, हाजिर-जवाबी तथा जीवन की समस्याओं

को सम्यक रूप से ग्रहण करने की शक्ति, यह सब बातें उसी प्रकार स्त्रीत्व के लक्षण को प्रकट करने वाली हैं जिस प्रकार पुरुषत्व के उपादान को। स्त्रियों को रूढ़िवादी माना जाता है किन्तु सार्वजनिक जीवन में रहने वाली और कॉंग्रेस की परम्परा में शिक्षित स्त्रियों ने समाज-सुधार का कार्य्य बड़ी तत्परता से अपने हाथ में लिया है और विशेष कर अस्पृश्यता-निवारण में पुरुषों को सहायता प्रदान की है। स्त्रियों के क्रियात्मक सहयोग के बिना समाज का यह कंलक, हिन्दुत्व का यह अभिशाप सुगमतया मिटने योग्य नहीं हो सकता था।

जिस समय मनुष्य के प्रति-क्रियात्मक विचार, कौंसिलों में घुसने की उनकी इच्छा, शत्रु के घर में घुसने की उतावली, कॉंग्रेस ने जिसे विचार-पूर्वक रद्द कर दिया है उसी सुधार का उनका चालाकी से स्वीकार करना, सरकारी पदों को ग्रहण करने की चिन्ता देखकर हम में निराश छा जाती है उस समय आशा की एक ही किरण इस प्रकार दिखाई पड़ती है कि जहां मनुष्य भी असफल हो जाता है वहाँ स्त्रियां जो मनुष्य की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी और कम सांसारिक होती हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन को निःस्वार्थ भाव से चलाने के लिये उद्यत हैं। उनकी शक्तियां अदम्य होती हैं और उनकी आशायें अटूट होती हैं। वे उन सिद्धान्तों और नीतियों से च्युत नहीं हो सकतीं जिनका कांग्रेस पर पचास वर्ष से अधिकार रहता आया है। यदि भारतवर्ष में आज विदेशी सभ्यता के प्रहार को

सहन कर राष्ट्रींयता जीवित रह सकती है तो उसका कारण भारतीय स्त्रियों का रुढ़िवादी आदर्श है और वही आदर्शवाद हमारे राष्ट्र को उस दासता से मुक्ति दिलाने से असमर्थ हो जिसके पाश में मनुष्य के स्वार्थ ने इस देश को अनेक शताब्दियों से बांध रक्खा है।

१८—विवाह

भारतवर्ष में, हिन्दुओं में विवाह लगभग अनिवार्य होता है। अविवाहित रहना आर्थिक वा शारीरिक अशक्तता वा मानसिक विपर्यय का निश्चित लक्षण माना जाता है। शंकराचार्य ऐसे महापुरुष ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना ही संन्यास धारण किया था। तीन आश्रमों को पार किए बिना ही संन्यास ग्रहण करने का बल उनके संस्कार, निस्संगत्व तथ त्याग के कारण ही उन्हें प्राप्त हुआ। केवल इसी बात से प्रगट होता है कि प्रत्येक साधारण पुरुष को विवाह अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार साधारण स्त्री को भी विवाह करना चाहिये। हिन्दू समाज में कोई भी लड़की कभी अविवाहित नहीं रह सकती, वह लूली, लंगड़ी, अंधी, पंगु, लकवा से पीड़ित, गूंगी, वा विक्षिप्त ही क्यों न हो। यह संभव है कि वह अपने पति के घर कभी न जावे, किन्तु उसका विवाह अवश्य होता है, अन्यथा युवा बालिका परिवार के लिए कलंक होती है और उसे नरक दिलाती है।

यह कथन अधम आदर्श नहीं है कि प्रत्येक साधारण स्त्री वा पुरुष का विवाह होना उचित है। विवाह की इस अनिवार्य व्यवस्था ने समाज पर उसके रीति-रस्म और

प्रथाओं के संबन्ध में अपनी प्रतिक्रिया डाली है। यदि सभी बालिकाओं और बालकों का विवाह होना चाहिए तो यह प्रश्न उठता है कि किस आयु में इनका विवाह हो जाना चाहिये। जब बालक बालिकाएं वयस्क हो जाते हैं तो उनके विवाह की आशा बिल्कुल निश्चित नहीं रह जाती। हो सकता है कि बालक किसी परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके, बालिका का शरीर अधिक विकसित न हो सके। यदि कोई बालिका विवाह योग्य होने पर दुबली पतली रह जाती है वा उसका शरीर बड़ा मोटा पड़ जाता है तो उससे विवाह करने की किसे उत्सुकता हो सकती है और जब वर और कन्या एक दूसरे को स्वयं चुनने वाले हों, वा माता पिता द्वारा चुनाव के बाद अपनी सम्मति अंतिम रूप में देने वाले हों तो वे निर्णय की कुछ ऐसी कसौटी रख सकते हैं जिसमें चित्ताकर्षण की सामूहिक बातों पर ध्यान नहीं रक्खा जाता, बल्कि एक एक बात अलग अलग देखी जाती है, और जिसमें चरित्र, योग्यता वा शारीरिक विकास की आवश्यक बातों के स्थान पर अनावश्यक बातों की ओर ध्यान जाता है। ऐसी परिस्थिति में अपरिपक्व अवस्था में बालक बालिकाओं के रहने पर ही माता पिताओं के चुनाव द्वारा जो विवाह होते हैं वे ही समीचीन हैं। इसी प्रकार बाल विवाह की चलन हो सकी है। हम लोगों ने इस प्रथा को आदर्श बना लिया है और हम लोगों ने इसकी श्रेष्ठता और महत्ता को समझा है। फिर भी वास्तविक बात निर्विवाद

रूप से यह है कि इससे उत्पन्न उपपरिणाम बाल विधवा है जो हिन्दू समाज का कलंक और अभिशाप है।

समय ने परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया है और शारदा कानून ने बाल विवाह न करने के उत्तरदायित्व का बोझ माता पिताओं के स्थान पर सरकार पर डाल दिया है। इस प्रकार शास्त्रों के अनुमोदन और प्राचीन प्रथा को भंग कर कानून ने उस पर मुहर लगा दी, किन्तु परम्परा का बल इतना अधिक होता है कि कानून से बच निकलने के लिये अनेक कार्रवाइयाँ कर ली जाती हैं। कानून जितना ही कड़ा होता है उससे बच निकलने के उपाय भी उतनी ही अधिक चालाकी के होते हैं। सब कुछ कह सुन चुकने के बाद वास्तविक बात यह है कि बाल विवाह की प्रथा अभी तक लुप्त नहीं हो सकी है और इस देश में लुप्त नहीं हो सकती। इस कारण हम अपने देश और अन्य देशों का सहानुभूति-पूर्ण ध्यान इस प्रश्न की ओर आना उचित समझते हैं।

हमने पहले ही कहा है कि हमारे देश में हिन्दुओं में एक परिवार का ही दूसरे परिवार का विवाह सम्बन्ध एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से नहीं होता किन्तु पाश्चात्य देशों में विपरीत प्रथा है। वहां विवाह की इच्छुक प्रत्येक कन्या को कई पुरुषों की ओर ध्यान ले जाना पड़ता है जिनमें से किसी एक को वह अपनी ओर आकर्षित कर अपना मित्र बना ले और उसे फुसला कर अन्त में प्रेमोपासना कर वह अपने माता पिता की आज्ञा

बिना भी उससे विवाह कर ले। जब कोई माता अपनी पुत्री को ऐसा करने में असफल पाती है तो उसके दुर्भाग्य पर विलाप करती है। अपनी पुत्रियों के प्रति उनका विलाप इसी प्रकार का है जिस प्रकार हमारे यहाँ परीक्षा में अनुतीर्ण होने पर पुत्र के दुर्भाग्य पर माता पिता विलाप करते हैं। हमारे यहाँ के पुत्रों की तरह पाश्चात्य देशों में भावी दामाद की सफलताओं वा असफलताओं पर ही माता पिता की आशा लगी रहती है। भारतवर्ष में पुत्रियों को पति-निर्वाचन का ऐसा अवसर नहीं दिया जाता। हम लोगों के जीवन की भारी कटुता यह है कि हम बैठकों में महिलाओं के साथ नहीं उठ-बैठ सकते। हम एक मण्डली बनाकर मनोविनोद की वार्ता नहीं कर सकते। भारत वर्ष में अत्यन्त निकट सम्बन्धियों को छोड़ कर अन्य पुरुषों और स्त्रियों को साथ बैठकर वार्त्तालाप और मनोविनोद का आनन्द सुलभ नहीं होता। कोई भी सन्धिकाल सदा असुविधा-जनक ही नहीं होता, बल्कि अव्यवस्था का भी होता है और प्राचीनता से नवीनता की ओर प्रगति में हमे सब परिणाम को सहन करने के लिये तैय्यार रहना चाहिए। बालविवाह की प्रथा आज जिस रूप में है उसके सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। उसके सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में जहाँ तहाँ कुछ बातें कही गई हैं जिससे उसका पूर्ण चित्र खिंच जाता है। दुलहिन पुत्री, पुत्र वधू, माता वा सास होती है तथा दूल्हा पुत्र, दामाद, पिता और ससुर होता है और इन सब के विषय में पृथक पृथक

कहा जा चुका है। इतना कहना पर्याप्त है कि अनिवार्य्य विवाह की प्रथा ने आनन्द की वृद्धि की है किन्तु आर्थिक रूप से इसने अनेक परिवारों को नष्ट कर दिया है। सामाजिक प्रथाओं का अत्याचार निरंकुश सरकारों से भी अधिक असह्य होता है और हम ऐसे समय की प्रतीक्षा करते हैं जब विवाह प्रेम द्वारा उत्पन्न एकता पर मुहर लगाने वाला साधारण कार्य्य हो जायगा।

—:०:—

उपसंहार

ब्रिटिश शासन-विधान की भाँति हिन्दू समाज भी अनेक शताब्दियों ही, नहीं बल्कि अनेक युगों में अलिखित नियमों के प्रभाव में विकसित हुआ है। राजत्व के आदर्श, साधु और सन्तों द्वारा नेतृत्व, युगों युगों में सुधारकों द्वारा किये हुए परिवर्तन और विदेशी प्रथाओं को ग्रहण करने की शक्ति; इन सब बातों ने समाज के ऊपर अज्ञात रूप से प्रभाव डालकर इसे एक जीवित संगठन बनाया है, जो संवेदनशील और चेतन तथा समय की आवश्यकता और युग की पुकार को तुरन्त अनुगमन करने वाला है। कुछ राजनीतिक और सामाजिक आर्थिक घटना-चक्रों द्वारा इसकी समान उन्नति और दृढ़ विकास का मार्ग पूर्णतया ध्वस्त और अवरुद्ध भी हो गया है। अब जब स्वराज्य निकट ही मालूम पड़ता है तो राजनीति क्षेत्र में हमें यह बात अङ्गीकार करनी चाहिये कि जब राष्ट्र की चिर-वांछित आकांक्षाएं पूर्ण हो चुकी रहेंगी तो विचारशील नेताओं के कन्धे पर अनेक रूप में समाज की रचना का उत्तरदायित्व होगा। स्वराज्य का अर्थ केवल पश्चिम से पूर्व वा अंग्रेजों से भारतीयों के हाथ अधिकार परिवर्तन ही नहीं है बल्कि यह एक व्यापक और दृढ़ आधार का पुनरुत्थान है जिसमें प्रत्येक मुख्य जाति को अपने सामाजिक पक्ष की दृष्टि से अपनी बनावट

और कार्य्यों की पुनर्रचना करनी पड़ेगी। इसका अर्थ केवल मामूली हेर-फेर न होगा, बल्कि देश का पुनर्विजय करना होगा। प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का पुनजीर्वित हो सकना कठिन है, किन्तु इसके व्यापक सिद्धान्तों से ही मुख्य रूप में हम लोगों का भविष्य निर्मित होगा जिससे विद्या और धन का संतुलन हो सके और जिस प्रकार इङ्गलैंड में लगभग पचास और फ्रान्स में लगभग २०० परिवारों के हाथ में राज्य-सूत्र है उसी प्रकार अपने देश की राजशक्ति को भी कुछ परिवारों के हाथ में ही केन्द्रित होने से बचाया जा सके। इन मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने से एक प्रकार का पवित्र समाजवाद बनेगा जिसमें हिंसा और वर्ग-युद्ध, संघर्ष, विरोध आदि विध्वन्सक बातों का अभाव होगा और ऐसे नवनिर्मित समाज में हिन्दूधर्म अपने प्राचीन रूप और प्राचीन पतिव्रता के साथ पुनः उदय होगा और वह बड़े गर्व के साथ ऐसे रूप में सेवा कार्य करेगा जिसमें वह नैतिकता और शिष्टाचार का आदर्श, सुख तथा स्वास्थ्य का गेह, सहयोग के कार्य और श्रमिक संगठन का नमूना, पारिवारिक स्नेह का केन्द्र तथा सुखी परिवारों का मूल तथा एक उन्नत और पवित्र सार्वजनिक जीवन का आधार होगा जिसमें निर्धनता कोई पाप न होगा और धन राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का सुगम साधन न रह जायगा।